श्रीमते रामानुजाय नमः ❀ श्रीवादिभीकर महागुरवे नमः

भगवत्पाद-श्री रामानुजाचार्य प्रणीत

-: हिन्दी श्रीभाष्य :-

[दसम भाग]

सम्पादकः-
जगद्‌गुरु रामानुजाचार्य यतीन्द्र
श्री रामनारायणाचार्य जी
महाराज

हिन्दी व्याख्याकार
श्री शिवप्रसाद द्विवेदी (श्रीधराचार्य)
साहित्य वेदान्ताचार्य; एम० ए० (द्वय)
वेदान्त विभागाध्यक्ष; श्रीहनुमत् स० म० विद्यालय
हनुमानगढ़ी, अयोध्या

प्रथमावृत्ति	मूल्य	होलिकोत्सव
१०००	४) रुपये	२०३५ विक्रमाब्द

डाक व्यय पृथक

❀ समर्पण ❀

श्री १००८ श्रीमद् वेदमार्ग प्रतिष्ठापनाचार्योभयवेदान्तप्रवर्तकाचार्य
सत्सम्प्रदायाचार्य श्रीपति पीठ षष्ठ सिहासनाधिपति श्रीमत्परमहंस
परिब्राजकाचार्य जगदगुरु भगवदनन्तपादीय



श्रीमद् विष्वक्सेनाचार्य श्री त्रिदण्डिस्वामिन्

परमाचार्य !

आपकी ही कृपा समृद्धि से समुद्भूत श्रीभाष्य खण्ड पुष्पों की महामाला के इस दशम पुष्प से २०३५ वर्षीय सिद्धाश्रम चरित्रवनस्थ भगवान वैकुण्ठनाथ भगवानके ब्रह्मोत्सवके पावनपर्व श्रीमत्क श्रीचरणों को समलंकृत करने का साहस इस विश्वास से 'कर रहा हूँ कि श्रीमान् अपनी वस्तुको इस नव परिवेश में प्रेक्षण जन्य अमन्दानन्द का अनुभव करेंगे। श्रीमत्कपदपद्मपराग लिप्सु श्रीधराचार्य शिवप्रसाद द्विवेदी।

यह सिद्ध किया जा सके कि इस विद्या के उत्तरार्द्ध में भी ब्रह्म का प्रतिपादन किया गया है।

यदि यहां सिद्धान्ती यह कहें कि—'सर्वं खल्विदंब्रह्म इस वाक्य के सर्व शब्द वाच्य जगत् का ब्रह्म के साथ सामानाधिकरण्य नहीं हो सकता है, अतएव ब्रह्म पद वाच्य जीव नहीं हो सकता है? तो इसका उत्तर है कि सम्पूर्ण जन्म लेने वाले देव तिर्यक्, स्थावर आदि शरीरों में जीव की व्यापकता बने रहने के कारण समानाधिकरण्य सुतरां सिद्ध है। अतएव ब्रह्म पद वाच्य जीव ही है। किञ्च सर्व शरीरता बतलाने से भी ब्रह्म शब्द वाच्य जीव सिद्ध होता है, क्योंकि शरीर तो सुख दुःखादि भोगों का साधन है। तो इसका उत्तर देते हुये सिद्धान्ती का कहना है कि—ब्रह्म शब्द वाच्य परमात्मा ही है। क्योंकि आगे के वाक्य तज्जलानीति शान्तमुपासीत' इस वाक्य में सम्पूर्ण जगत् की सृष्टि, स्थिति और संहार का कारण उसी ब्रह्म को बतलाया गया है। जीव जगत् की उत्पत्ति स्थिति और प्रलय का कारण नहीं हो सकता है। किञ्च—'सर्वं खल्विदं' इत्यादि वाक्य में सम्पूर्ण जड़ चेतनात्मक जगत् का तादात्म्य ब्रह्म शब्द वाच्य से बतलाया गया है; अतएव ब्रह्म शब्द वाच्य परमात्मा ही है। किञ्च 'यस्य पृथिवी शरीरम्' आदि वाक्य में सम्पूर्ण जगत् को ब्रह्म का शरीर बतलाया गया है। वह परमात्मा का ही धर्म सम्भव है किसी जीव विशेष का नहीं। और मनोमय प्राण शरीर इत्यादि श्रुतियों में जो परमात्मा अणीयस्त्व

निर्देश किया गया है वह उपासना के लिए।

इस पाद का दूसरा अधिकरण अत्रधिकरण है। 'संभोग प्राप्तिरिति चेन्न वैशेष्यात्' सूत्र के श्रीभाष्य में कहा गया है कि सम्पूर्ण जगत् का अन्तर्यामी होने पर भी परमात्मा भोक्ता नहीं है। इस पर यह शंका होती है कि 'यस्य ब्रह्म च क्षत्रं च उभे भवत ओदनम्, मृत्युर्यस्योपसेचनम्' इत्यादि श्रुति में भोक्ता रूप से प्रतीयमान परमात्मा नहीं हो सकता है; यह पूर्वपक्षी की संगति है। यहाँ शंका होती है कि उपर्युक्त काठक श्रुति में प्रतीयमान भोक्ता जीव है अथवा परमात्मा ? पूर्वपक्षी का कहना है कि उक्त भोक्ता जीव ही है। श्री भाष्यकार का कहना है कि वह भोक्ता परमात्मा ही है क्योंकि उक्त श्रुति में साक्षात् भोक्तृत्व का प्रतिपादन न करके मृत्यूपसिक्त जंगम जड़ संहारक ही कहे गये हैं। इस विद्या के प्रकरण में जीव से भिन्नता के सूचक उपास्यत्व प्राप्यत्व आदि अनेक चिह्न परमात्मा के बतलाये गये है।

यदि यह कहा जाय कि यदि परमात्मा भोक्ता नहीं है तो फिर 'ऋतं पिबन्तौ' इत्यादि श्रुति में परमात्मा को भोक्ता क्यों बतलाया गया है ? तो इसका उत्तर है कि कर्म फल भोग में जीवगत प्रेर्यत्व तथा परमात्म गत प्रेरकत्व को ही दृष्टिपथ में रखकर 'ऋतं पिबन्तौ' श्रुति की प्रवृत्ति है। अथवा छत्री न्याय से यहां पर अभोक्ता परमात्मा में भी भोक्तृत्व का उपचार समझना चाहिये।

किञ्च—'द्वासुपर्णा सयुजा सखाया' इत्यादि श्रुति के उत्तरार्द्ध के पूर्वार्द्ध की व्याख्या करते हुए पैङ्गी ब्राह्मण में जो अन्तःकरण परक तथा उत्तरार्द्ध को जीव परक कहा गया है—'तयोरन्यः पिप्पलं स्वादवत्तीति सत्त्वम्' 'अनश्नन्नन्यः अभिच कशोतीतिज्ञः' यह जो पूर्वपक्षी की शंका है वह उचित नहीं है। क्योंकि—'द्रव्यासु व्यवसायेषु सत्त्वमस्त्रीं तु जन्तुषु' इस कोश के अनुसार सत्त्व शब्द जन्तु—जीव का वाचक है। कोश भी बतलाता है 'जन्तु जन्य शरीरिणः'। जीव ही कर्मफलों का भोक्ता है। और जानातीति व्युत्पत्ति के अनुसार ज्ञः शब्द का साक्षात् तथा निरुपाधिक प्रयोग परमात्मा में ही समझना चाहिये। इस तरह यह श्रुति भी जीवात्मा एवं परमात्मा के ही अर्थ का प्रतिपादक है।

अन्तराधिकरण का प्रारम्भ 'अन्तर उपपत्तेः' सूत्र से होता है। इस अधिकरण में परमात्मोपासक जीवात्मा के चक्षु के भीतर दिखायी देने वाला जो परम पुरुष का निरूपण किया गया है। 'य एषोऽक्षिणी पुरुषो दृश्यते' इत्यादि छान्दोग्य श्रुति में वर्णित पुरुष चक्षु की अधिष्ठातृ देवता सूर्य है. अथवा जीवात्मा है; या परमात्मा ? यह शंका होती है। पूर्वपक्षी का कहना है कि उसे चक्षुरिन्द्रिय का अधिष्ठातृ देवता सूर्य अथवा जीवात्मा ही मानना चाहिये। परमात्मा नहीं। सिद्धान्ती का कहना है कि उपासक के चक्षुवर्ती परमात्मा ही हैं क्योंकि उस पुरुष के अमृतत्व आदि धर्म बतलाये गये हैं उस अक्षिवर्ती पुरुष

को ही श्रुति में ब्रह्म शब्द से तथा अभय शब्द से अभिहित किया गया है। इसी अक्षिवर्ती पुरुष को श्रुति 'कं ब्रह्म, खं ब्रह्म' कह कर सुख स्वरूप बतलाती है। उसी अक्षिस्थ पुरुष को इस प्रकरण की श्रुति संयद्‌वामत्वरूप अखिल कल्याण गुण गणाकर तथा अखिल हेय प्रत्यनीक रूप से बतलाती है। ये सभी अमृतत्व, अभयत्व, निरतिशय बृहत्व अपरिच्छिन्न सुख स्वरूपत्व, अखिल कल्याण गुणाकरत्व तथा अखिल हेय प्रत्यनीकत्व रूप धर्म परं ब्रह्म के ही है, अतएव उपासक पुरुष के चक्षुर्वर्ती पुरुष परमात्मा ही है चक्षुरिन्द्रियाधिष्ठातृ देवता अथवा जीव नहीं।

यहा पर यह शंका की जा सकती है कि चक्षुर्वर्ती पुरुष को उपासना से किसी फल की प्राप्ति तो हो नहीं सकती है। फलप्रद तो तद्भिन्न परमात्मा ही है, फिर श्रुति अक्षिस्थ पुरुष की उपासना का विधान क्यों करती है? तो इसका उत्तर है कि श्रुत्युक्ति में यथा श्रुत अर्थ में ही विश्वास करना चाहिये। जैसे श्रुति विधान करती है कि यात्रा के प्रारम्भ में दर्पण देखना मंगलकर तथा किसी पाषण्डी का दर्शन अमंगलकर होता है। इसमें कौन सा नियामक है? इसी तरह श्रुति अफल प्रद भी उपासक के अक्षिस्थ पुरुष की उपासना का विधान करती है तो मुमुक्षु पुरुष को चाहिये कि वह उसकी उपासना करे।

श्रीभाष्य का पन्द्रहवा अन्तर्याम्यधिकरण है इसका प्रारम्भ 'अन्तर्याम्यधिदैवाधिलोकादिषु तद्धर्म व्यपदेशात्' इस ब्रह्म सूत्र के ५१ वें सूत्र से होता है। इस अधिकरण में विचार

किया गया है कि अन्तर्यामी ब्राह्मण के 'यः पृथिव्यां तिष्ठन् पृथिव्यामन्तरः' इत्यादि श्रुति में पठित अन्तर्यामी जीवात्मा है अथवा परमात्मा? पूर्वपक्षी का कहना है कि उसे जीवात्मा इसलिए मानना चाहिये उसे 'अदृष्टो द्रष्टा' इत्यादि श्रुति में उसको द्रष्टा श्रोता बतलाकर इन्द्रियाधीन ज्ञानवान् बतलाया गया है। इस पर सिद्धान्ती का कहना है कि ऐसी बात नहीं है। 'यं पृथिवी न वेद' 'यमात्मा न वेद' 'यस्य पृथिवी शरीरम्' यस्यात्मा शरीरम्' इत्यादि श्रुतियों में जिस अन्तर्यामी को जड़ चेतनात्मक सम्पूर्ण जगत् का नियामक बतलाया गया है। उसी को अदृष्टो द्रष्टा इत्यादि श्रुति में द्रष्टा और श्रोता भी बतलाया गया है। सम्पूर्ण जगत् का एकमात्र नियामक परमात्मा ही है। अतएव वह अन्तर्यामी परमात्मा ही है जीवात्मा नहीं। किञ्च सर्वज्ञ एवं सर्ववेत्ता रूप से 'यः सर्वज्ञः सर्ववित्' इत्यादि श्रुतियों में प्रसिद्ध परमात्मा ही सभी वस्तुओंके स्वरूपके याथात्म्य का नैसर्गिक द्रष्टा है। और द्रष्टृत्व के लिये इन्द्रियवृत्त्यधीन ज्ञानवान् होना आवश्यक नहीं है। 'अपाणिपादो जवनो ग्रहीता पश्यत्यचक्षुः स शृणोत्यकर्णः' श्रुति परमात्मा को इन्द्रिय रहित तथा सभी कार्यों का नैसर्गिक सम्पादक बतलाती है। अतएव उक्त श्रुति में अन्तर्यामी रूप से वर्णित परमात्मा ही है।

अदृश्यत्वाधिकरण का प्रारम्भ इस विचार से होता है कि मुण्डकोपनिषद के 'अथ परा यया तदक्षरमधिगम्यते' (मु० उ० १।१) श्रुति में पराविद्या में वर्णित अक्षर शब्द

वाच्य तथा 'अक्षरात् परतः परः' श्रुति मे वर्णित कौन है ? प्रकृति तथा पुरुष अथवा परमात्मा है ? पूर्व पक्षी का कहना है कि चूंकि उस अक्षर तत्त्व को श्रुति दृश्यत्वादि गुणो से रहित तथा सभी भूतो की योनि (उपादान कारण बतलाती है अतएव वह जडा प्रकृति ही है । क्योकि (मु० उ० २ । १) मे बतलाया गया है कि 'अक्षरात् परतः परः' अर्थात सभी भूतो के कारण भूत अक्षर तत्त्व (प्रकृति मे उसका उपभोक्ता होने के कारण पुरुष महान् है । इस तरह इन श्रुतियो मे क्रमशः प्रकृति तथा पुरुष ही है । सिद्धान्तों का कहना है कि भूत योनि अक्षर तत्त्व प्रकृति नही परमात्मा ही है । क्योकि आगे चलकर उसी भूत योनि अक्षर तत्व को सर्वज्ञ तथा सर्ववेत्ता बतलाते हुए श्रुति कहती है—य सर्वज्ञ सर्ववित्' । सर्वज्ञता आदि गुण जडा प्रकृति तथा अल्पज्ञ पुरुष मे सर्वथा असम्भव है। यही नही आगे चल कर श्रुति यह भी बतलाती है कि उस अक्षर तत्व भूत परंब्रह्म परमात्मा के सत्य सकल्प से प्रेरित होकर प्रधान (प्रकृति) नामरूप विभाग सम्पन्न भोग्य वर्ग [अन्न] के रूप मे परिणत होती है । अतएव अदृश्यत्वादि गुणों से युक्त अक्षर शब्द वाच्य परं ब्रह्म परमात्मा ही है, यह सिद्ध होता है । 'अक्षरात् परतः पर' श्रुति बतलाती है कि नाश रहित प्रकृति के भोक्ता जीव से भी महान् परमात्मा है क्योंकि वह उन दोनो का नियामक है । इसी अर्थ को बतलाते हुए भगवान् बादरायण भी कहते है—'अदृश्यत्वाद गुण को धर्मोक्तः' अर्थात् अदृश्यत्व आदि गु

से युक्त अक्षर तत्त्व परमात्मा ही हैं क्योंकि उसके सर्वज्ञत्व आदि धर्म बतलाये गये है जो धर्म केवल परमात्मा मे ही पाये जाते हैं।

इस तरह पराविद्या के (मु० द० १ । १ तथा मु० द० २ । १) श्रुति मे प्रतिपाद्यरूप मे वर्णित प्रधान तथा पुरुष दो कारणों से नही हो सकते हैं। (१) (मु० उ० १ । १) श्रुति में वर्णित अक्षर पुरुष की यह विशेषता यह बतलायी गया है कि उसके जान लेने से सभी वस्तुओ का ज्ञान हो जाता है। और जड प्रकृति के ज्ञान से चेतन पुरुष का ज्ञान असम्भव होने के कारण अक्षर शब्द वाच्य प्रधान प्रकृति नही हो सकती है। किन्च छान्दोग्योपनिषद् छठे अध्याय मे सद्विद्या प्रकरण मे सत् शब्द वाच्य परमात्मा के ही ज्ञान से ही उसके कार्यभूत सभी वस्तु का ज्ञान एक विज्ञान से सर्व विज्ञान प्रतिज्ञा करते हुए बतलाया गया है। अतएव यहा भी एक विज्ञान से सर्व विज्ञान प्रतिज्ञा का निर्वाह करने के लिए अक्षर शब्द वाच्य परमात्मा को ही मानना होगा (२) अक्षरात् परतः परः' श्रुति में अक्षर शब्द वाच्य प्रकृति से बढकर भोक्ता होने के कारण जीव से भी महान रूप से पर शब्द वाच्य परमात्मा को बतला कर प्रकृति और परमात्मा मे भेद बतलाया गया है। अतएव भी इस विद्या के प्रतिपाद्य परमात्मा ही है। अक्षरात् क वर्ग से लेकर म वर्ग पर्यन्त पढ़े गये पान्चो वर्गो के अन्तिम पचीसवे अक्षर मकार शब्द वाच्य जीव से भी महान् इस परा विद्या के

प्रतिपाद्य परं पुरुष परमात्मा है। इस तरह इस श्रुति में भी अक्षर शब्द से प्रकृति को नहीं कहा गया है। साथ ही उस भूत योनि अक्षर पुरुष को ही त्रैलोक्य शरीरक बतलाते हुए इस प्रकरण की श्रुति बतलाती है—

अग्निमूर्धा चक्षुषी चन्द्रसूर्यौ, दिशः श्रोत्रे वाग्विवृताश्च वेदाः।
वायुःप्राणोहृदयं विश्वमस्य, पद्भ्यां पृथिवी ह्येष सर्वभूतान्तरात्मा॥

अर्थात उस परमात्मा का अग्नि शब्द वाच्य द्युलोक ही शिर है। चन्द्रमा और सूर्य उसके नेत्र हैं। दिशाएं श्रोत्र तथा विस्तृत वेद ही उसकी वाणी हैं। वायु उसका प्राण है, सारा विश्व उसका हृदय है, पृथ्वी उसके दोनों पैर हैं तथा स्वय वह सभी भूतों को अन्तरात्मा है।

इस तरह स्पष्ट है भूत योनि अक्षर तत्त्व परमात्मा ही है प्रधान अथवा पुरुष नही।

ब्रह्म सूत्र के प्रथम अध्याय के दूसरे पाद की समाप्ति वैश्वानराधिकरण के साथ होती है। छान्दोग्योपनिषद् (अ० ५ ख० ११) में यह कथा वर्णित है कि महर्षियों ने अश्वपति राजा के यहाँ जाकर उनसे पूछा कि—आत्मानमेवेमं वैश्वानरं सम्पत्येषि, तमेव नो ब्रूहि' अर्थात् इस समय आप वैश्वानर आत्मा की पूर्ण रूप से जानकारी नही है राजा ने कहा—यस्त्वेतमेवं प्रादेशमात्रमभि विमानमात्मानं वैश्वानरमुपास्ते स सर्वेषु लोकेषु, सर्वेषु भूतेषु सर्वेषुभूतेष्वन्नमत्ति' अर्थात् जो इस द्युलोक आदि से परिछिन्न होने पर भी स्वयं अभिविमान=सर्वतः परिच्छेद रहित

परमात्मा की उपासना करता है. वह सभी लोकों, भूतों एवं आत्माओं में व्यापक रूप से विद्यमान परमभोग्य परमात्मा का अनुभव करता है। अब यहाँ पर प्रश्न यह उठता है कि उक्त श्रुति में वर्णित वैश्वानर शब्द किसका वाचक है? क्योंकि इसका अग्नि, जाठराग्नि, अग्नि के अधिष्ठातृ देवता एवं परमात्मा के अर्थ में साक्षात् प्रयोग देखा जाता है। इस पर भगवान् बादरायण निम्न नव सूत्रों के द्वारा वैश्वानराधिकरण की रचना करते हुए सिद्ध करते हैं कि वैश्वानर शब्द परमात्मा का ही वाचक है। और साथ ही साथ वे उनके परमात्म व्यतिरिक्त तीन अर्थों के वाच्कत्व का खण्डन करते हैं। जिन नव सूत्रों में वैश्वानराधिकरण की रचना की गयी है। वे सूत्र निम्न हैं।

(१) वैश्वानरः साधारण शब्द विशेषात्–अर्थात वैश्वानर शब्द के अर्थ चतुष्टय का समान रूप से वाचक होने पर भी वह परमात्मा का ही वाचक इसलिए है कि वैश्वानर विद्या में उसके त्रैलोक्य शरीरकत्व आदि ऐसी विशेषताएं बतलायी गयी है जो परमात्मा में ही पायी जाती है। [२] स्मर्यमाणमनुमानं स्यादिति अर्थात इस विद्या में वर्णित द्युलोक से लेकर पृथिवी लोक पर्यन्त वैश्वानर का शरीर ही वैश्वनर शब्द के परामात्म वाचकत्व का हेतु है। [३] शब्दादिभ्योऽन्त. प्रतिष्ठानाच्च नेतिचेन्न तथा दृष्टयुपदेशादसम्भवात् पुरुषमपि चैनमधीयते। अर्थात् यदि पूर्व पक्षी यह कहे कि वाजसनेयीशाखा के 'स एषोऽग्निर्वैश्वानरः' श्रुति में वैश्वानर शब्द अग्नि के समानाधिकरण्येन पढ़ा गया

है अतएव वह अग्नि का वाचक है। तथा वैश्वानर विद्या के प्रकरण में वैश्वानर को प्राणाहुतियों के आधार रूप से हृदय के भीतर विद्यमान गार्हपत्यादि अग्नित्रय के रूप में वर्णन (हृदयं गार्हपत्य:) इत्यादि श्रुति के द्वारा किया गया है, अतएव उसे अग्नि अथवा जाठराग्नि का ही वाचक मानना चाहिये परमात्मक नहीं तो यह कहना इस लिए युक्ति संगत नहीं है कि उपर्युक्त श्रुतियों में वैश्वानर परमात्मा का अग्नि शरीरक तथा जाठराग्नि शरीरक रूप से उपासना करने के लिए बतलाया गया है क्यों कि वह उनका अन्तर्यामी है। इस अर्थ का पता इसलिए चलता है कि केवल अग्नि अथवा जाठराग्नि त्रैलोक्य शरीरक नहीं हो सकते हैं। और वैश्वानर को द्युलोक से लेकर पृथिवीलोक पर्यन्त शरीर वाला बतलाया गया है। (४) 'अतएव न देवता भूतञ्च।' अर्थात् वैश्वानर शब्द को अग्नि का तथा अग्नि के अधिष्ठातृ देवता का भी वाचक इसलिए नहीं माना जा सकता है कि उसे (वैश्वानर को) त्रैलोक्य शरीरक तथा निरुपाधिक पुरुष शब्द से श्रुति में निर्दिष्ट किया गया है। (५) 'साक्षादप्यविरोधं जैमिनि:।' महर्षि जैमिनि मानते हैं कि जिस तरह सम्पूर्ण नरों (नित्य पदार्थों) का नेता होने के कारण वैश्वानर शब्द परमात्मा मुख्यावृत्या वाचक है उसी प्रकार अग्रनयनादि गुणों युक्त होने के कारण अग्नि शब्द भी साक्षात् परमात्मा का वाचक है। ऐसा मानने में कोई विरोध नहीं है। [६] 'अभिव्यक्ते रित्याश्मरथ्य:' आश्मरथ्य आचार्य मानते है कि अपरिच्छिन्न

परमात्मा को भी 'यस्त्वेतमेवं प्रादेश मात्रमभिविमानमात्मानं वैश्वानरम्' श्रुति में द्युलोक से लेकर पृथिवीलोक पर्यन्त प्रदेश से परिच्छिन्न रूप से सीमातीत सर्वान्तरात्मा वैश्वानर परमात्मा की उपासना का विधान किया गया है उसका अभिप्राय है कि उपासक उसका त्रैलोक्य शरीरक रूप से उपासना करे। [७] अनुस्मृतेर्बादरिः' अर्थात् बादरी आचार्य का भी कहना है कि वैश्वानर परमात्मा की कल्पना उपासना के लिए की गयी है। [८] सम्पत्तेरिति जैमिनिस्तथाहि दर्शयति—जैमिनि आचार्य मानते हैं कि वैश्वानर विद्या के अङ्गभूत उपासकों द्वारा प्रतिदिन की जाने वाली प्राणाहुति के अग्निहोत्रत्व की सिद्धि के लिए ही वैश्वानर को उपासकों के हृदय में विद्यमान गार्हपत्य आदि अग्नित्रय के रूप में कल्पना की गयी है। ऐसा ही वैश्वानर विद्या की श्रुति बतलाती है। 'अथ य एवं विद्वान् अग्निहोत्र जुहोति' अर्थात् जो वैश्वानर विद्या का उपासक प्राणाग्नि होम करता है।' इत्यादि। [९] आमनन्ति चैनमस्मिन् 'तस्य ह वा एतस्य वैश्वानरस्य मूर्धैव सुतेजा।" उस प्रसिद्ध वैश्वानर की मूर्धा द्युलोक ही उस वैश्वानर विद्या के उपासक का शिर है। इत्यादि श्रुतियां वैश्वानर के उपासक के शरीर मे त्रैलोक्य शरीरक वैश्वानर परमात्मा को उपासना का विधान करते है।

प्रस्तुत दशम भाग में हम द्वितीय पाद के ही अधिकरणार्थ संग्रह के साथ विश्राम लेते हैं। अगला ११ वाँ और बार-

हवाँ भाग एक ही साथ प्रकाशित हो रहा है। बीच में कुछ दूसरे कार्यों में व्यस्त होने के कारण हम अपने पाठकों की समय से सेवा नहीं कर सके, इसके लिए हमें हार्दिक खेद है। किन्तु इधर कुछ ऐसी स्थित बन गयी है कि हम अपने पाठकों को शीघ्रतम सेवा कर सकेंगे। यदि कोई विशेष अन्तराय नहीं आया तो हम प्रत्येक मास में श्री भाष्य के नवीन भागों के द्वारा अपने पाठकों की सेवा अवश्य करने की कोशिश करेंगे।

दासानुदास—

श्रीधर श्री वैष्णवदास दास

❀ श्रीः ❀

॥ श्रीमते रामानुजाय नमः ॥

॥ श्रीवादिभीकरमहागुरवे नमः ॥

हिन्दी श्रीभाष्य

दशम भाग

वैकुण्ठेशसमारम्भां रम्यजामातृमध्यमाम् ।
अनन्ताचार्यपर्यन्तां वन्दे गुरुपरम्पराम् ॥

अन्तर्याम्यधिकरण का प्रारम्भ

मूल—❀स्थानादिव्यपदेशाच्चेत्यत्र ❀यश्चक्षुषि तिष्ठन्नित्यादिना प्रतिपाद्यमानं चक्षुषि स्थितिर्नियमनादिकं परमात्मन एवेति सिद्धं कृत्वाऽक्षिपुरुषस्य परमात्मत्व साधितम् । इदानीं तदेव समर्थ्यते—

अन्तर्याम्यधिदैवाधिलोकादिषु तद्धर्मव्यपदेशात् १।२।१९

काण्वा माध्यन्दिनाश्च वाजसनेयिनस्समामनन्ति ❀यः पृथिव्यां तिष्ठन पृथिव्या अन्तरो यं पृथिवी न वेद यस्य पृथिवी शरीरं यः पृथिवीमन्तरो यमयत्येष त

आत्माऽन्तर्याम्यमृतः इति । एवमम्स्वग्न्यन्तरिक्षवा-य्वादित्यदिक्चन्द्रतारकाकाशतमस्तेजस्सु देवेषु च सर्वेषु भूतेषु प्राणवाक्चक्षुश्श्रोत्रमनस्त्वग्विज्ञानरेतस्स्वात्मा-त्मीयेषु च तिष्ठन्तं तत्तदन्तरभूतं तत्तदवेद्यं तत्तच्छरी-रकं तत्तद्यमयन्तं कञ्चिन्निर्दिश्य *एष त आत्माऽन्तर्या-म्यमृतः इत्युपदिश्यते । माध्यन्दिनपाठे तु *यस्सर्वेषु लोकेषु तिष्ठन् *यस्सर्वेषु यज्ञेषु इति च पर्यायाः । *यो विज्ञाने तिष्ठन्नित्यस्य पर्यायस्य स्थाने *य आत्मनि तिष्ठन् इति पर्यायः । *स त आत्माऽन्तर्या-म्यमृतः इति च विशेषः । तत्र संशय्यते- किमयमन्त-र्यामी प्रत्यगात्मा, उत परमात्मेति । किं युक्तम् ? प्रत्यगात्मेति । कुतः ? वाक्यशेषे *द्रष्टा श्रोतेति करणायत्तज्ञानताश्रुतेः, एवं द्रष्टुरेवान्तर्यामित्वोपदे-शात्, *नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टेति द्रष्ट्रन्तरनिषेधाच्चेति ।

अनु०— ब्रह्म सूत्र (१।२।१४) 'स्थानादि व्यपदेशाच्च' सूत्र में 'यश्चक्षुषि तिष्ठन्' [बृ० ५।७।१८] अर्थात् जो नेत्रों के भीतर रहता हुआ नेत्रों का नियमन करता है' इत्यादि श्रुति के माध्यम से यह प्रतिपादित किया गया है कि नेत्रों में

रह कर परमात्मा ही उनका नियमन किया करता है। इस तरह से सिद्ध करके नेत्रस्थ पुरुष को परमात्मा सिद्ध किया गया है। इस अन्तर्यामी अधिकरण में उसी का समर्थन किया जा रहा है।

अन्तर्याम्यधिदैवाधिलोकादिषु तद्धर्मव्यपदेशात् ॥ १।२।१६ ॥

अर्थात् काण्वपाठ सिद्ध अधिदैव शब्द जिन वाक्यों के आदि में हैं तथा माध्यन्दिन पाठ सिद्ध अधिलोक शब्द जिनके आदि में हैं उन वाक्यों में अन्तर्यामी रूप से श्रीमन्नारायण परमात्मा ही कहे गये हैं, क्योंकि उन श्रुतियों में जो अन्तर्यामी के धर्म बतलाये गये हैं वे धर्म परमात्मा में ही असाधारण रूप से से पाये जाते हैं। यह इस सूत्र का अर्थ हुआ।

काण्व वाजसनेयी शाखा वाले तथा माध्यन्दिन वाजसनेयी शाखा वाले यह सामाम्नान करते हैं—जो पृथिवी के भीतर रहता हुआ पृथिवी की अपेक्षा अन्तरंग है, जिसको पृथिवी नहीं जानती है और पृथिवी जिसका शरीर है, तथा जो पृथिवी के भीतर रह कर उसका नियमन किया करता है, वही तुम्हारा भी अमृत अन्तर्यामी है। (बृ० ५।७।६) इस तरह जल, अग्नि, अन्तरिक्ष, वायु, द्युलोक, आदित्य, दिशा, चन्द्रमा, तारे, आकाश, तमस् और तेज तथा देवता (प्रभृति) सभी भूतों में, तथा आत्मीय प्राण, वाक्, चक्षुः; श्रोत्र, मन; त्वक्, विज्ञान और रेतस् में रहने वाले, उन सबो की अपेक्षा अन्तरंग, उन सबों

के द्वारा न जानने योग्य, वे सभी वस्तुयें जिसका शरीर हैं, तथा उन सभी वस्तुओं के नियामक रूप से किसी का निर्देश करके यह उपदेश किया गया है कि यही तुम्हारा भी अमृत अन्तर्यामी है। और माध्यन्दिन पाठ में तो—'जो सभी लोकों में रहता हुआ' जो सभी वेदों में' 'जो सभी यज्ञों में' ये सभी पर्याय दिये गये है। जो विज्ञान के भीतर रहता हुआ' इस पर्याय के स्थान में 'जो आत्मा के भीतर रहता हुआ' यह पर्याय आया है। और उसमें—वही तुम्हारी अमृत अन्तर्यामी आत्मा है।' यह विशेष पर्याय हैं।

अब यहां पर शंका उठती है कि—यह अन्तर्यामी जीव है अथवा परमात्मा ? क्या मानना उचित है ? पूर्वपक्षी का कहना है कि प्रत्यगात्मा को ही अन्तर्यामी मानना चाहिये क्योंकि इन श्रुतियों के वाक्यशेष में सुना जाता है कि 'वह द्रष्टा और श्रवण करने वाला है।' इस तरह उसको इन्द्रियों के अधीन ज्ञान होता है। इस तरह श्रुति द्रष्टा आत्मा को ही अन्तर्यामी बतलाती है। तथा—'इस अन्तर्यामी से भिन्न कोई द्रष्टा नहीं है, इस श्रुति के द्वारा दूसरे द्रष्टा का निषेध भी किया गया है।

टिप्पणी—पूर्वपक्षी द्वारा कहे गये— 'निषेधाच्चेति' में इति पद प्रकार का वाचक है उसके द्वारा वाक्य शेष का ग्रहण होता है। याज्ञवल्क्य के प्रति उद्दालक का जो प्रश्न वह दो

विषयों से सम्बन्ध रखता है। क्या आप उस सूत्र को जानते हैं, जिसके द्वारा यह लोक और परलोक संबन्ध है ? इस सूत्र विषयक तथा-'क्या आप उस अन्तर्यामी को जानते हैं- जो इस लोक परलोक तथा सभी भूतों के भीतर रहकर उनका नियमन किया करता है ? इन श्रुतियों में उक्त अन्तर्यामी विषयक। इन दोनों प्रश्नों का उत्तर देते हुए याज्ञवल्क्य ने जैसे केवल वायु को ही सूत्र बतलाया उसी तरह अन्तर्यामी विषयक प्रश्न का उत्तर वे नहीं देते हैं। वल्कि वे पृथिवी आदि सबों का अन्तर्यामी अलग-अलग बतलाते हैं। अतएव सबों के अन्तर्यामी भिन्न-भिन्न प्रतीत होते हैं। किञ्च- सुबालोपनिषद् में 'यह अन्तर्यामी ही सभी भूतों की अन्तरात्मा है, यह एक ही बार पाठ आया है, किन्तु यहाँ तो प्रत्येक पाठ में कहा गया है कि- यह तुम्हारा अमृत अन्तर्यामी अन्तरात्मा है; जिसे तुमने पूछा है। अर्थात् भले ही सभी भूतों की अन्तरात्मा एक हो किन्तु जिसे तुमने पूछा है वह अन्तर्यामी अनेक है, यही याज्ञवल्क्य के कहने का अभिप्राय है। 'यही पूर्वपक्षी का अभिप्राय है।'

मूल—एवं प्राप्तेऽभिधीयते- अन्तर्याम्यधिदैवाधिलोकादिषु तद्धर्मव्यपदेशात् । अधिदैवाधिलोकादिपदचिह्नितेषु वाक्येषु श्रूयमाणोऽन्तर्याम्यपहतपाप्मा परमात्मा

नारायणः । काण्वपाठसिद्धेभ्योऽधिदैवादिमद्भ्यो वाक्येभ्योऽधिकान्यधिलोकादिमन्ति वाक्यानि माध्यन्दिपाठे सन्तीति ज्ञापनार्थमधिदैवाधिलोकादिष्वित्युभयोरुपादानम् । तदेवमुभयेष्वपि वाक्येष्वन्तर्यामी परमात्मेत्यर्थः कुतः ? तद्धर्मव्यपदेशात्, परमात्मधर्मो ह्ययम्, यदेक एव सन् सर्वलोकसर्वभूतसर्वदेवादीन्नियमयतीति । तथा उद्दालकप्रश्नः— *य इमं च लोकं परं च लोकं सर्वाणि च भूतानि योऽन्तरो यमयतीत्युपक्रम्य *तमन्तर्यामिणं ब्रूहीति । तस्य चोत्तरम् *यः पृथिव्यां तिष्ठन् इत्यारभ्योक्तम् । तदेतत्सर्वांल्लोकान् सर्वाणि च भूतानि सर्वान् देवान् सर्वान्वेदान् सर्वांश्च यज्ञानन्तः प्रविश्य सर्वप्रकारनियमनम्, सर्वशरीरतया सर्वस्यात्मत्वं च सर्वज्ञात्सत्यसङ्कल्पात्पुरुषोत्तमादन्यस्य न संभवति । तथाहि *अन्तः प्रविष्टश्शास्ता जनानां सर्वात्मा *तत्सृष्ट्वा; तदेवानुप्राविशत्, तदनुप्रविश्य; सच्च त्यच्चाभवत् इत्यादीन्यौपनिषदानि वाक्यानि परमात्मन एव सर्वस्य प्रशासितृत्वं सर्वस्यात्मत्वमित्यादीनि वदन्ति । तथा

सुबालोपनिषदि *नै वेह किञ्चानाग्र आसीदमूलमना धारमिमाः प्रजाः प्रजायन्ते दिव्यो देव एको नारायणः, चक्षुश्च द्रष्टव्यं च नारायणः, श्रोत्रं च श्रोतव्यं च नारायणः इत्यारभ्य *अन्तश्शरीरे निहितो गुहाया-मज एको नित्यः यस्य पृथिवी शरीरं यः पृथिवीमन्तरे सञ्चरन्यं पृथिवी न वेद यस्यापश्शरीरम् इत्यादि, *यस्य मृत्युश्शरीरं यो मृत्युमन्तरे सञ्चरन्यं मृत्युर्न वेद एष सर्वभूतान्तरात्माऽपहृतपाप्मा दिव्यो देव एको नारायणः इति परस्यैव ब्रह्मणस्सर्वात्मत्वं सर्वशरीरत्वं सर्वस्य नियन्तृत्वं च प्रतिपाद्यते । स्वाभाविकं चामृत्वं परमात्मन एव धर्मः ।

उपर्युक्त प्रकार का पूर्वपक्ष उपस्थित होने पर सूत्रकार कहते हैं— 'अन्तर्याम्यधिदैवाधि लोकादिषु तद्धर्म व्यपदेशात्' अर्थात् अधिदैव एवं अधिलोक आदि पद रूपी चिह्नों से चिह्नित वाक्यों में जिसका श्रवण अन्तर्यामी रूप से होता है, वह कर्मों के बन्धन से रहित परमात्मा नारायण ही है । काण्व पाठ से सिद्ध अधिदैव आदि पदों से युक्त वाक्यों में से अधिक अधि-लोक आदि पदों से युक्त वाक्य माध्यन्दिन पाठ में है, इस अर्थ को ही बतलाने के लिये सूत्रकार ने अधिदैवाधि लोकादिषु पद का

प्रयोग किया है । इस तरह काण्व पाठ सिद्ध तथा माध्यन्दिन पाठ सिद्ध इन दोनों प्रकार के वाक्यों में अन्तर्यामी रूप से परमात्मा ही सिद्ध होते हैं । क्योंकि तद्धर्मव्यपदेशात् । अर्थात् यह परमात्मा का ही धर्म है कि अकेला ही वह सभी लोकों, सभी भूतों, सभी देव आदि शरीरों का नियमन किया करता है 'जो इस लोक एवं परलोक तथा सभी भूतों के भीतर अन्तर्यामी रूप से प्रवेश करके उसका नियमन किया करता है' यहां से प्रारम्भ करके 'उस अन्तर्यामी का आप उपदेश करें' यहां तक उद्दालक का प्रश्न है । और इस प्रश्न का उत्तर जो पृथिवी के भीतर रहता हुआ' यहाँ से प्रारम्भ करके कहा गया है । तो यह सभी लोकों, सभी भूतों, सभी देवों, सभी वेदों (ज्ञानों) सभी यज्ञों के भीतर प्रवेश करके उनका हर प्रकार से नियमन करना, तथा सबों के शरीर होने के कारण सबों की आत्मा होना, सर्वज्ञ, सत्य संकल्प तथा पुरुषोत्तम परमात्मा से भिन्न किसी दूसरे का कार्य नहीं हो सकता है । वह इस प्रकार से कि— [तै० आ० ११।२०] श्रुति बतलाती है कि- परमात्मा सबों की आत्मा है क्योंकि वह सभी जीवों के भीतर प्रवेश करके उनका नियमन किया करता है ।' (तै० आन० ६) श्रुति के अनुसार—परमात्मा सम्पूर्ण जगत् की सृष्टि करके उसके भीतर प्रवेश कर गया । और उसके भीतर प्रवेश करके चेतन [जीव] एवं जड़ स्वरूप हो गया ।' इत्यादि उपनिषदों के वाक्य परमात्मा को ही सबों के प्रशासक तथा सबों

की आत्मा रूप से बतलाते हैं। इसी तरह सुबालोपनिषद् [७] श्रुति बतलाती है कि– निश्चय ही सृष्टि से पूर्व इस संसार में कुछ भी नहीं था। ये सभी प्रजाएं किसी मूल के विना ही उत्पन्न होती हैं। दिव्य गुणों से युक्त अकेले भगवान नारायण ही देवता हैं। देखने वाला नेत्र तथा देखने योग्य सभी वस्तुए नारायणात्मक ही हैं श्रोत्रेन्द्रिय तथा सुनने के विषय भी नारायणात्मक ही है, इस श्रुति से प्रारम्भ करके- 'शरीर के भीतर हृदय रूपी गुफा में एक नित्य एवं अजन्मा नारायण छिपा हुआ है। पृथिवी जिसका शरीर है; जो पृथिवी के भी अन्तर्यामी रूप से संचरण करता है, जिसे पृथिवी नहीं जानती। जिस नारायण का जल शरीर है। इत्यादि कहा गया है। जिसका मृत्यु शरीर है, जो मृत्युके भीतर रहकर संचरण करता है, जिसे मृत्यु नहीं जानती है। यह सभी भूतों की अन्तरात्मा रूप से रहने वाला कर्म के बन्धनों से रहित, दिव्य गुणों से युक्त एक ही देवता भगवान नारायण हैं। यह श्रुति परं ब्रह्म को ही सर्वो को आत्मा सर्व शरीरक, तथा सर्वो के नियन्ता रूप से प्रतिपादन करती है। और परमात्मा का ही, स्वाभाविक धर्म अमृतत्व है।

टिप्पणी— अधिदैवाधिलोकादिषु— इस सूत्र के अधिदैव तथा अधिलोक पद अधिदैवम तथा अधिलोकम् इन दो पदोंको बतलाते हैं। इस तरह उक्त सूत्रस्थ पद का विग्रह है कि अधिदैव तथा अधिलोक पद आदि में अर्थात् पहले आये हैं जिन वाक्यो

के उन वाक्योंमें अन्तर्यामी रूप से नारायण ही वतलाये गये हैं यद्यपि पृथिवी से लेकर 'सर्वदेव पर्यन्त के अन्तर्यामी के वर्णन के पश्चात् 'इत्यधि दैवतम्' यह पद आया है फिर भी उस अधिदैवतम् पद का संवध सभी पर्यायों से मानना चाहिए सूत्र का 'तद् धर्म' पद उन सभी धर्मों को सूचित करता है, अन्तर्यामी के जिन धर्मों का वर्णन सुबालोपनिषद् तथा तैत्तिरीय-आरण्यक में किया गया है।

मूल—न च परस्यात्मनः करणायत्तं द्रष्टृत्वादिकम, अपितु स्वभावत एव सर्वज्ञत्वात्सत्यसङ्कल्पत्वाच्च स्वत एव। तथाच श्रुतिः *पश्यत्यचक्षुस्स शृणोत्यकर्णः अपाणिपादो जवनो ग्रहीता इति। न च दर्शनश्रवणादिशब्दाश्चक्षुरादिकरणजन्मनो ज्ञानस्य वाचकाः, अपितु रूपादिसाक्षात्कारस्य। 'स च रूपादिसाक्षात्कारः कर्मतिरोहितस्वाभाविकज्ञानस्य जीवस्य चक्षुरादिकरणजन्मा, परस्यतु स्वत एव। *नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टेत्येतदपि पूर्ववाक्योदितान्नियन्तुर्द्रष्टुरन्यो द्रष्टा नास्तीति वदति। *यं पृथिवी न वेद *यमात्मा न वेदेत्येवमादिभिर्वाक्यैः पृथिव्यात्मादिनियाम्यैरनुपलभ्यमान एव नियमयतीति यत्पूर्वमुक्तम्, तदेव

*अदृष्टो द्रष्टा अश्रुतश्श्रोतेति निगमय्य *नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टेत्यादिना तस्य नियन्तुर्नियन्त्रन्तरं निषिध्यते । *एष त आत्मा *न त आत्मा इति च त इति व्यतिरेकविभक्तिनिर्दिष्टस्य जीवस्यात्मतयोपदिश्यमानोऽन्तर्यामी न प्रत्यगात्मा भवितुमर्हति ॥१९॥

अनु०—परमात्मा की देखने आदि की कियायें नेत्रादि इन्द्रियों के अधीन नहीं होती है अपितु उसकी वे सभी क्रियायें स्वाभाविक रूप से एवं स्वतः हुआ करती हैं । क्योंकि परमात्मा स्वभावतः सर्वज्ञ एवं सत्य संकल्प गुण सम्पन्न है । (श्वे० ३।१६) श्रुति भी ऐसा ही कहती है—'वह परमात्मा चक्षु श्रोत्र प्रभृति ज्ञानेन्द्रिय निरपेक्ष होकर अव्याहत रूप से सभी शब्दों एवं रूपों का साक्षात्कार करता है । पाणि पाद प्रभृति कर्मेन्द्रिय निरपेक्ष रहकर वह तीव्रगामी एवं सबों का ग्राहक है । इस श्रुति में प्रयुक्त दर्शन एवं श्रवण शब्द चक्षुरादि इन्द्रिय जन्य ज्ञान के वाचक नहीं है, अपितु ये रूप आदि के साक्षात्कार के वाचक है। यह रूपादि का साक्षात्कार, जिनका अविद्यामूलक कर्मों से जन्य अदृष्ट के कारण स्वाभाविक ज्ञान तिरोहित हो गया है, उन जीवों को चक्षुरादि इन्द्रिय जन्य होती है; तथा परमात्मा को स्वाभाविक रूप से होता है । 'नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टा' यह श्रुति भी बतलाती है कि पूर्वोक्त नियामक द्रष्टा परमात्मा से भिन्न

कोई द्रष्टा नहीं है। पहले जो यह कहा गया है कि— 'जिस अन्तर्यामी को पृथिवी नहीं जानती है' 'जिसे आत्मा भी नहीं जानता' प्रभृति वाक्यों द्वारा पृथिवी और आत्मा आदि जो नियाम्य हैं, इनके द्वारा जिसका ज्ञान नही होता वही इन सबों का नियमन करता है। उसी का— निगमन करती हुई श्रुति कहती है— 'अदृष्टो द्रष्टा, अश्रुतश्श्रोता' अर्थात् नियन्तृत्वादि विशिष्ट परमात्मा को छोड़कर कोई दूसरा द्रष्टृत्व, श्रोतृत्व आदि गुण विशिष्ट नहीं है। इस श्रुति के द्वारा उन सबों के नियामक अन्तर्यामी के नियामकान्तर का निषेध किया जाता है। अर्थात् इस श्रुति में बतलाया जाता है कि अन्तर्यामी परमात्मा का कोई दूसरा नियमन करने वाला नहीं है। 'यह तुम्हारी आत्मा है' 'वही तुम्हारी आत्मा है' इत्यादि वाक्यों में भिन्न (षष्ठ्यन्त) विभक्ति 'का' द्वारा जिसका निर्देश किया गया है, उस जीव की आत्मा रूप से उपदिश्यमान अन्तर्यामी जीव नहीं हो सकता ॥ १६ ॥

टिप्पणी—यदि पूर्वपक्षी यह शंका करें कि 'अदृष्टोद्रष्टा, अश्रुतः श्रोता, अमतो मन्ता, अविज्ञातो विज्ञाता' इस वाक्य में आत्मा के साक्षात्कार के उपाय भूत श्रवण मनन, निदिध्यासन के कर्तृत्व को ही प्रतीति होती है, रूपादि के साक्षात्कार की नहीं। तो इसी शंका का परिहार करने के लिए—'न च परस्यात्मनः' इत्यादि वाक्य को श्रीभाष्यकार उपक्रान्त करते हैं।

इस वाक्य का अभिप्राय है कि—'न दृष्टेर्द्रष्टारं पश्येः, न मते मंन्तारं मन्वीथाः' इत्यादि वाक्यों में आत्मा के साक्षात्कार के साधन भूत श्रवण मनन निदिध्यासन कर्तृत्व का निषेध किया जा चुका है, अतएव उक्त श्रुतिमें–द्रष्टा, श्रोता, मन्ता और विज्ञाता रूप से प्रतीत होने वाले परमात्मा के श्रवणादि कर्तृत्व का प्रतिपादन उक्त श्रुति विरुद्ध होगा और परमात्मा के रूप आदि के साक्षात्कार कर्तृत्व का प्रतिपादन तो 'पश्यत्यचक्षुः स शृणोत्यकर्णः' इत्यादि श्रुति में प्रतिपादित किया ही गया है, अतएव श्रवणादि कर्तृत्व श्रुति का विरोध होने से तथा रूपादि के साक्षात्कार श्रुति के अनुकूल होने के कारण द्रष्टा आदि पद रूपादि के साक्षात्कार के ही वाचक हैं ।

न च स्मार्तमतद्धर्माभिलापाच्छारीरश्च ।१।२।२०।।

मूल—स्मार्तं प्रधानम् । शारीरः जीवः । स्मार्तं च शारीरश्च नान्तर्यामी; अतद्धर्माभिलापात्— तयोरसंभावितधर्माभिलापात् । स्वभावत एव सर्वस्य द्रष्टृत्वम्, सर्वस्य नियन्तृत्वम्, सर्वस्यात्मत्वम्, स्वत एवामतत्वं च तयोर्न संभावनागन्धमर्हति । एतदुक्तं भवति– यथा स्मार्तमचेतनं सर्वज्ञत्वनियन्तृत्वसर्वात्मत्वादिकं नार्हति, तथा जीवोऽपि. अतद्धर्मत्वात्–

इति । अमीषां गुणानां परमात्मन्यन्वयः, प्रत्यगात्मनि व्यतिरेकश्च सूत्रद्वयेन दर्शितः ॥२०॥

अनु०—प्रधान और जीव भी अन्तर्यामी नहीं हो सकते हैं क्योंकि अन्तर्यामी के बतलाये गये धर्म उसमें नहीं हो सकते हैं। यह सूत्रार्थ है।

सूत्र का स्मार्त शब्द प्रधान को बतलाता है। और शारीर शब्द जीव को बतलाता है। इस तरह अर्थ हुआ कि प्रधान और जीव अन्तर्यामी नहीं हो सकते हैं। क्योंकि—अतद्धर्माभिलापात्—क्योंकि श्रुतियां जीव और प्रधान में असम्भव धर्म अन्तर्यामी के बतलाती हैं। क्योंकि स्वरूपतः सबों के द्रष्टा सबों के नियामक, सबों की आत्मा तथा स्वरूपतः अमृत होना रूप धर्मों की गन्ध भी इन दोनों में नहीं हो सकते हैं। कहने का अभिप्राय है कि—जिस तरह जड़ स्मार्त-प्रकृति में सर्वज्ञत्व नियन्तृत्व, तथा सर्वात्मत्व आदि धर्म सम्भव नहीं हैं, उसी तरह जीव भी उन धर्मों से रहित हैं। इन धर्मों का सम्बन्ध परमात्मा में ही है और जीवात्मा में इन धर्मों का अभाव है यह दो सूत्रों के द्वारा बतलाया गया।

निरपेक्षं च हेत्वन्तरमाह—

उभयेऽपि हि भेदेनैनमधीयते ।१।२।२१॥

मूल—उभये– माध्यन्दिनाः काण्वाश्च. अन्तर्यामिणो नियामयत्वेन वागादिभिरचेतनंस्समम् एनं शारीरमपि विभज्याधीयते– *य आत्मनि तिष्ठन्नात्मनोऽन्तरो यमात्मा न वेद यस्यात्मा शरीरं य आत्मानमन्तरो यमयति स त आत्माऽन्तर्याम्यमृतः इति माध्यन्दिनाः, *यो विज्ञाने तिष्ठन् इत्यादि च काण्वाः परमात्मनियाम्यतया तस्माद्विलक्षणत्वेनेनमधीयत इत्यर्थः। अतोऽन्तर्यामी प्रत्यगात्मनो विलक्षणोऽपहतपाप्म परमात्मा नारायण इति सिद्धम् ॥२१॥

अनु०– उपर्युक्त दो सूत्रों में भेद निर्देश सापेक्ष हेतुओं को कहा गया है। अब सूत्रकार निम्न बीसवें सूत्र को भिन्नता निर्देश निरपेक्ष हेतु के रूप में उपस्थित करते हैं।
'उभयेऽपि हि भेदेनैन मधीयते।' १।२।२१॥

काण्व एवं माध्यन्दिन दोनों शाखाओं का अध्ययन करने वाले अचेतन वाणी आदि इन्द्रियों के समान ही जीव को भी अन्तर्यामी रूप से पढते हैं। यह सूत्रार्थ है। सूत्र का उभये पद—काण्व एवं माध्यन्दिन शाखाध्यायियों को बतलाता है। ये दोनों जड़ वाणी आदि के साथ ही जीव को भी अन्तर्यामी का नियाम्य रूप से पढ़ते हैं। माध्यन्दिन शाखा वाले पढ़ते हैं

हैं कि- 'जो आत्मा के भीतर रहता हुआ आत्मा की अपेक्षा अन्तरङ्ग है, जिसे आत्मा नहीं जानता और आत्मा जिसका शरीर है तथा जो आत्मा के भीतर रहकर उसका नियमन किया करता है, वही तुम्हारा अन्तर्यामी अमृत आत्मा है।' काण्व शाखा वाले पढ़ते हैं कि- जो विज्ञान स्वरूप आत्मा के भीतर रहता हुआ।' इस तरह ये दोनों ही परमात्मा के नियाम्य रूप से परमात्मा से विलक्षण रूप से ही जीवात्मा को पढ़ते हैं। अतएव अन्तर्यामी जीवात्मा से भिन्न अकर्मवश्य परमात्मा नारायण ही हैं, यह सिद्ध हुआ।

इस तरह अन्तर्यामी अधिकरण का हिन्दी अनुवाद
समाप्त हुआ।

अदृश्यत्वादिगुणकत्वाधिकरण का प्रारम्भ

मूल- आथर्वणिका अधीयते-*अथ परा यया तदक्षरमधिगम्यते, यत्तदद्रेश्यमग्राह्यमगोत्रमवर्णमचक्षुश्श्रोत्रं तदपाणिपादम्, नित्यं विभुं सर्वगतं सुसूक्ष्मं तदव्ययं यद्भूतयोनिं परिपश्यन्ति धीराः, इति, तथोत्तरत्र *अक्षरात्परतः परः इति। तत्र सन्दिह्यते-किमिहादृश्यत्वादिगुणकमक्षरमक्षरात्परतः परश्च प्रकृतिपुरुषौ; उतोभयत्र परमात्मैवेति। किं तावत्प्राप्तम्?

प्रकृतिपुरुषाविति । कुतः ? अस्याक्षरस्य ❀ अदृष्टो द्रष्टेत्यादाविव न द्रष्टृत्वादिश्चेतनधर्मविशेष इह श्रूयते, ❀अक्षरात्परतः पर इति च सर्वस्माद्विकारात्परभूतादक्षरादस्मात्परः क्षेत्रज्ञसमष्टिपुरुषः प्रतिपाद्यते । एतदुक्तं भवति– रूपादिमत्स्थूलरूपाचेतनपृथिव्यादिभूताश्रयं दृश्यत्वादिकं प्रतिषिध्यमानं पृथिव्यादिसजातीयसूक्ष्मरूपाचेतनमेवोपस्थापयति. तच्च प्रधानमेव । तस्मात्परत्वं च समष्टिपुरुषस्यैव प्रसिद्धम् । तदधिष्ठितं च प्रधानं महदादिविशेषपर्यन्तं विकारजातं प्रसूत इति तत्र दृष्टान्ता उपन्यस्यन्ते ❀यथोर्णनाभिस्सृजते गह्णते च यथा पृथिव्यामोषधयस्संभवन्ति । यथा सतः पुरुषात्केशलोमानि तथा. ऽक्षरात्संभवतीह विश्वम् ॥ इति। अतोऽस्मिन् प्रकरणे प्रधानपुरुषावेव प्रतिपाद्येते इति ।

अनु०– अदृश्यत्व आदि गुण वाले परमात्मा ही हैं, क्योंकि सर्वज्ञत्व आदि परमात्मा के ही धर्म कहे गये हैं। यह सूत्र का अर्थ हुआ ।

आथर्वणिक विद्वान् मुण्डकोपनिषद्–१।१।५-६।। श्रुति में

'इसके पश्चात् परा विद्या कही जाती है जिसके द्वारा उस अक्षर को जाना जाता है। जो वह अक्षर, ज्ञानेन्द्रियों का अविषय होने से अद्रेश्य है, कर्मेन्द्रियों का अविषय होने से अग्राह्य है। वह कुल, वर्ण चक्षुः श्रोत्र आदि ज्ञानेन्द्रिय तथा पाणिपाद प्रभृति कर्मेन्द्रियों से रहित है, देश कालादि से अपरिच्छिन्न होकर भी सबों के अन्तःकरण में प्रवेश करके स्थित है। उपर्युक्त विशेषण विशिष्ट अक्षर को ही प्रज्ञाशाली उपासक सभी भूतों का उपादान कारण रूप से देखते हैं। यहां से प्रारम्भ करके अन्त में उसका निगमन करते हुए (मु० २।१।२ , श्रुति में कहते है– 'वह अव्याकृत अक्षर से भी श्रेष्ठ जो समष्टि पुरुष उससे भी श्रेष्ठ है।'

इस श्रुति के विषय में सन्देह होता है कि– कि क्या यहां पर अदृश्यत्वादि गुण विशिष्ट परतत्त्व अक्षर से भी पर कहकर प्रकृति और पुरुष कहे गये हैं अथवा दोनों स्थान में परमात्मा का ही अभिधान किया गया है ? इन दोनों पक्षों में कौन सा पक्ष श्रेष्ठ है ? इस पर पूर्वपक्षी का कहना है कि– उपर्युक्त दोनों प्रकृति पुरुष ही है। क्योंकि– इस अक्षर के अद्रष्टृत्व आदि चेतन के धर्मों को श्रुति उसी प्रकार नहीं बतलाती है जिस तरह 'अदृष्टो द्रष्टा' इत्यादि श्रुति में। 'अक्षरात् परतः परः' इस श्रुति में सभी महदादि विकार के मूल होने के कारण प्रधान शब्द वाच्य परा प्रकृति (अक्षर) से भी (भोक्ता होने के कारण) पर (श्रेष्ठ) समष्टि पुरुष क्षेत्रज्ञ

जीव का प्रतिपादन किया गया है। कहने का अभिप्राय है कि अद्रेश्यम् आदि श्रुति द्वारा प्रतिपादित अदृश्यत्व रूप आदि से युक्त स्थूल स्वरूप वाले जड़ पृथिवी आदि भूतों में पाये जाने वाले दृश्यत्व आदि का निषेध करते हुए पृथवी आदि के ही समान सूक्ष्म रूप वाले अचेतन का ही अपने आश्रय रूप से उपस्थापित करते हैं। और वह अचेतन प्रधान ही है। और उस प्रधान से पर (श्रेष्ठ) जीवका ही होना प्रसिद्ध है। चूंकि जीव के द्वारा अधिष्ठित प्रकृति महन् से लेकर विशेष पर्यन्त सम्पूर्ण विकारों को उत्पन्न करती है, अतएव चेतन एवं अचेतन से सम्बद्ध दृष्टान्तों को श्रुति उपन्यस्त करती है। (मु० १।१।७) जिस तरह मकड़ा जाल बनाकर स्वयं उसको निगल जाता है और जिस प्रकार पृथिवीमें ओषधियाँ उत्पन्न होती हैं, तथा जिस प्रकार जीवित पुरुष से केश एवं लोम उत्पन्न होते हैं, उसी तरह अक्षर से यह सम्पूर्ण जगत् उत्पन्न होता है। अतएव माण्डुक्योपनिषद् के इस प्रकरण में प्रकृति और पुरुष का ही प्रतिपादन किया गया है।

टिप्पणी—एतदुक्तम्भवति – इत्यादि वाक्य का अभिप्राय है कि जिस तरह अन्यार्थक नञ् से संयुक्त अब्राह्मण आदि पद ब्राह्मण से भिन्न तत्सदृश क्षत्रिय आदिको बतलाता है, चाण्डाल आदि अथवा पशु आदि को नहीं। उसी तरह अदृश्यत्व आदि गुणों का आश्रय भूत धर्मी कौन है? इस प्रकार की आकाँक्षा

होने पर चूंकि जिस दृश्यत्व का निषेध किया जारहा है उसका आधार अचेतन है अतएव उससे भिन्न उसके सदृश सूक्ष्मावस्थावस्थित अचेतन प्रकृति ही अदृश्यत्वादि गुणक प्रकृति को अपने आश्रय रूप से बतलाते हैं। क्योंकि प्रकृतिसे भिन्न उसके विजातीय धर्मी को अदृश्यत्वादि गुणों का आधार मानने पर गौरव दोष होगा।

मूल—एवं प्राप्ते ब्रूमः – अदृश्यत्वादिगुणको धर्मोक्तेः। अदृश्यत्वादिगुणकोऽक्षरात्परतः परश्च परमपुरुषः एव, कुतः ? तद्धर्मोक्तेः, ॐ यस्सर्वज्ञस्सर्वविदित्यादिना सर्वज्ञत्वादिकास्तस्यैव धर्मा उच्यन्ते। तथा हि ॐयया तदक्षरमधिगम्यते इत्यादिना अदृश्यत्वादिगुणकमक्षरमभिधाय ॐअक्षरात्संभवतीह विश्वमिति तस्माद्विश्वसंभवं चाभिधाय ॐ यस्सर्वज्ञस्सर्वविद्यस्य ज्ञानमयं तपः। तस्मादेतद्ब्रह्म नाम रूपमन्नं च जायते। इति भूतयोनेरक्षरस्य सर्वज्ञत्वादिः प्रतिपाद्यते। पश्चात् ॐअक्षरात्परतः परः इति च प्रकृतमदृश्यत्वादिगुणकं भूतयोन्यक्षरं सर्वज्ञमेव परत्वेन व्यपदिश्यते। अतः ॐअक्षरात्परतः परः इत्यक्षरशब्दः पञ्चम्यन्तः प्रकृतमदृश्यत्वादिगुणमक्षरं नाभिधत्ते

तस्य सर्वज्ञस्य विश्वयोनेस्सर्वस्मात्परत्वेन तस्माद-न्यस्य परत्वासंभवात् । अतोऽत्राक्षरशब्दो भूतसूक्ष्म-मचेतनं ब्रूते ॥ २२ ॥

अनु०—उपर्युक्त प्रकार का पूर्वपक्ष उपस्थित होने पर सूत्रकार कहते हैं—'अदृश्यत्वादिगुणको धर्मोक्तेः।' अर्थात् अदृश्यत्व आदि गुण सम्पन्न एवं अक्षर से श्रेष्ठ (जीव) से भी श्रेष्ठ परम पुरुष ही हैं । क्योंकि श्रुतियोंमें परमात्माके धम बतलाये गये हैं । 'यः सर्वज्ञ सर्ववित्' इत्यादि श्रुतिके द्वारा सर्वज्ञत्व आदि उसी परमात्मा के धर्म बतलाये गये हैं । वह इस प्रकार कि—(मु० १।१।५) श्रुति—'जिसके द्वारा उस अक्षर पुरुष को जाना जाता है ।' इस श्रुति के द्वारा अदृश्यत्वादि गुण सम्पन्न अक्षर पुरुष का अभिधान (वर्णन) करके, 'और उस अक्षर से यह सारा विश्व उत्पन्न होता है ।' इस (मु० १।१।७) श्रुति के द्वारा उस अक्षर से इस सम्पूर्ण जगत् की उत्पत्ति का वर्णन करके, (मु० १।१।१०) 'जो सर्वों को समान रूप से तथा विशेष रूप से जानता है, जिसकी ज्ञान प्रचुर सत्य संकल्प रूपी तपस्या है । उस संकल्प के द्वारा सृष्ट्युन्मुख ब्रह्म से यह अव्याकृत ब्रह्म साक्षात् हो जाता है । उसके नाम रूप से युक्त वह ब्रह्म होता है पुनः वही अन्न शब्द निर्दिष्ट भोक्ता भोग्य रूप भी हो जाता है । इस श्रुति के द्वारा सभी भूतों के एकमात्र कारण परंब्रह्म की सर्वज्ञता आदि गुणों का प्रतिपादन किया गया है । इसके

पश्चात् । पुनः इसके पश्चात् 'अक्षरात्परतः परः' (अर्थात् ब्रह्म अक्षर प्रकृति से भी श्रेष्ठ जीव से भी सबों का नियामक होने के कारण उससे भी श्रेष्ठ है ।) इस श्रुति में प्रस्तुत अदृश्यत्वादि गुण वाले, सम्पूर्ण भूतों के एकमात्र कारण सर्वज्ञ परब्रह्म को ही सबों से श्रेष्ठ बताया गया है । अतएव 'अक्षरात् परतः परः' इस श्रुति का पञ्चम्यन्त अक्षर शब्द अदृश्यत्वादि गुण युक्त (परम ब्रह्म) को नहीं बतला रहा है, क्योंकि उस सर्वज्ञ तथा सम्पूर्ण जगत् को एकमात्र कारण परब्रह्म के सबों से पर (श्रेष्ठ) होने के कारण दूसरा कोई उससे महान नहीं हो सकता, (तथा इस श्रुति में उससे दो महान् वस्तुओं का निर्देश 'परतः एवं परः' शब्द से किया गया है ।) अतएव यहां पर अक्षर शब्द भूतों की सूक्ष्मावस्था रूप प्रकृतिको बतलाता है ।

इतश्च न प्रधानपुरुषौ—

विशेषणभेदव्यपदेशाभ्याञ्च नेतरौ ।१।२।२३।।

मूल— विशिनष्टि हि प्रकरणम् प्रधानाच्च पुरुषाच्च भूतायोन्यक्षरं व्यावर्तयतीत्यर्थः, एकविज्ञानेन सर्वविज्ञानप्रतिज्ञोपपादनादिभिः । तथा ताभ्यामक्षरस्य भेदश्च व्यपदिश्यते *अक्षरात्परतः परः इत्यादिना । तथाहि—*स ब्रह्मविद्यां सर्वविद्याप्रतिष्ठामथर्वाय ज्येष्ठपुत्राय

प्राह इति सर्वविद्याप्रतिष्ठाभूता ब्रह्मविद्या प्रक्रान्ता, परविद्यैव च सर्वविद्याप्रतिष्ठा, तामिमाँ सर्वविद्याप्रतिष्ठाँ विद्याँ चतुर्मुखाथर्वादिगुरुपरम्परयाऽङ्गिरसा प्राप्तां जिज्ञासुः *शौनको ह वै महाशालोऽङ्गिरसं विधिवदुपसन्नः पप्रच्छ कस्मिन्नु भगवो विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं भवतीति। ब्रह्मविद्यायास्सर्वविद्याश्रयत्वाद्ब्रह्मविज्ञानेन सर्वं विज्ञातं भवतीति कृत्वा ब्रह्मस्वरूपमनेन पृष्टम्। *तस्मै स होवाच द्वे विद्ये वेदितव्ये इति हस्म यद्ब्रह्मविदो वदन्ति परा चैवापरा चेति। ब्रह्मत्रेप्सुना द्वे विद्ये वेदतिब्ये—ब्रह्मविषये परोक्षापरोक्षरूपे द्वे विज्ञाने उपादेये इत्यर्थः। तत्र परोक्षं शास्त्रजन्यं ज्ञानम्, अपरोक्षं योगजन्यम्, तयोर्ब्रह्मप्राप्त्युपायभूतमपरोक्षं ज्ञानम्, तच्च भक्तिरूपापन्नम्; यमेवैष वृणुते तेन लभ्यः इत्यत्रैव विशेष्यमाणत्वात, तदुपायश्चागमजन्यं विवेकादिसाधनसप्तकानुगृहीतं ज्ञानम्, * तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसाऽनाशकेनेति श्रुतेः। आह च भगवान्पराशरः *तत्प्राप्ति-

हेतुर्ज्ञानं च कर्म चोक्तं महामुने। आगमोत्थं विवेकाच्च द्विधा ज्ञानं तथोच्यते इति।

इसलिए भी यहाँ प्रधान और पुरुष का प्रतिपादन नहीं किया गया है कि—'विशेषण भेदव्यपदेशाभ्याञ्च नेतरौ

अर्थात् विशेषण तथा भेद के अभिधान के द्वारा भी प्रकृति तथा जीव (मु० १।१।५ श्रुति में) नहीं प्रतिपादित किये गये हैं। यह सूत्रार्थ हुआ।

एक विज्ञान के द्वारा सर्व विज्ञान की प्रतिज्ञा की सिद्धि आदि के द्वारा इस प्रकरण को विशेषित किया गया है। अर्थात् प्रकृति और पुरुष (जीव) से सम्पूर्ण भूतों के कारण स्वरूप परमात्मा को अलग किया गया है। और 'अक्षरात् परतः परः' इत्यादि श्रुति के द्वारा प्रकृति और पुरुष से अक्षर (परं ब्रह्म) का भेद भी प्रतिपादित किया गया है। वह इस प्रकार से कि—(मु० १।१।१) 'प्रसिद्ध चतुर्मुख ब्रह्मा ने सभी विद्याओं के आश्रय भूत ब्रह्मविद्या का अपने ज्येष्ठ पुत्र अथर्वा को उपदेश दिया।' इस श्रुति से सभी विद्याओं के आश्रयभूत ब्रह्मविद्या को प्रारम्भ किया गया है। (यह विद्या ब्रह्मविद्या है इस अर्थकी सिद्धि केवल श्रुतिगत ब्रह्मविशेष्यके वाचक ब्रह्मविद्या शब्द से ही नहीं होती है अपितु उसके विशेषण के वाचक 'सर्वविद्या प्रतिष्ठाम्' शब्द के द्वारा भी सिद्ध होता है कि इस विद्या का

विषय ब्रह्म ही है।) (पर विद्या=परब्रह्म विषयिणी विद्या) ही सभी विद्याओं का आश्रय है। (क्योंकि इसके ज्ञातव्य ब्रह्म में ही सभी ज्ञातव्य विषयों का अन्तर्भाव होने से ब्रह्म मात्र में ही सभी ज्ञानों का अन्तर्भाव हो जाता है, अतएव यह विद्या सभी विद्याओं का आश्रय है।) प्रसिद्ध सभी विद्याओं के आश्रय भूत इस विद्या को चतुर्मुख अथर्वा आदि गुरु परम्परा से अंगिरस ने प्राप्त किया, उसके जिज्ञासु महागृहस्थ शुनक के पुत्र शौनक ने विधि पूर्वक अंगिरस के सन्निकट में जाकर पूछा–भगवन्! किसको जान लेने से यह सम्पूर्ण ज्ञातव्य वस्तुओं का ज्ञान हो जाता है?' चूंकि ब्रह्मविद्या सभी विद्याओं का आश्रय है, अतएव ब्रह्म का ज्ञान हो जाने से सभी ज्ञातव्य वस्तुओं का ज्ञान हो जाता है, यही हृदय में रखकर शौनक ने इस (मु० १।१।३) श्रुति में ब्रह्म के स्वरूप के विषय में जिज्ञासा की है। 'शौनक को उपदेश देते हुए आंगिरस ने कहा—'दो विद्यायें जानने के योग्य हैं, यह हमारे पूर्वाचार्य पराशर आदि पूर्वाचार्यों ने कहा है। वे विद्यायें है—परा और अपरा।' अर्थात् ब्रह्म प्राप्ति की इच्छा वाले को दो विद्या जाननी चाहिये। अब प्रश्न उठता है कि यदि दोनों विद्याओं का विषय ब्रह्म ही है तो फिर दोनों में क्या अन्तर है? तो इसका उत्तर है कि ब्रह्म को ही अपना विषय अपरा विद्या परोक्ष रूप से बनाती है और परा विद्या प्रत्यक्ष रूप से ब्रह्म को अपना विषय बनाती है। यही इन दोनों विद्याओं में भेद है। अतएव ये दोनों

विज्ञान (परा विद्या तथा अपरा विद्या) उपादेय हैं। यह उक्त श्रुति का अर्थ हुआ। इन दोनों में शास्त्रों के द्वारा उत्पन्न ज्ञान परोक्ष (रूप से ब्रह्म को अपना विषय बनाता) है और योग जन्य ज्ञान प्रत्यक्षतः। उन दोनों में ब्रह्मकी प्राप्ति का (अव्यवहित) उपायभूत अपरोक्ष ज्ञान है तथा वह भक्ति स्वरूप है। क्योंकि उसकी विशेषता बतलाती हुई श्रुति आगे इसी उपनिषद् में कहेगी कि—यह परम ब्रह्म अपने जिस प्रेम पात्र भक्त का वरण करता है उसी के द्वारा प्राप्त किया जाता है। और अपरा विद्या रूप जो दूसरा परोक्ष ब्रह्म प्राप्ति का साधन है, वह शास्त्रों के अध्ययन से उत्पन्न तथा विवेक आदि (विमोक अभ्यास, क्रिया, कल्याण, अनवसाद और अनुद्धर्ष) सात साधनों से अनुगृहीत ज्ञान है। इस अर्थ को 'उस प्रसिद्ध ब्रह्म को ब्रह्म ज्ञानी जन वेद वाक्यों के अनुसार, यज्ञ, दान, तपस्या एवं उपवास के द्वारा जानने की इच्छा करते हैं। (बृ० उ० ६।४।४२। यह श्रुति ही बतलाती है। भगवान् पराशर भी (वि० पु० ६। ५।६०) में कहते हैं— हे महामुने ! शास्त्रों में ब्रह्म की प्राप्ति के साधन रूप से ज्ञान और कर्म दो उपाय बतलाये गये हैं। वह ज्ञान दो प्रकार का होता है, शास्त्रजन्य ज्ञान तथा विवेक जन्य ज्ञान।

मूल—*तत्रापरा ऋग्वेदो यजुर्वेदः इत्यादिना * धर्मशास्त्राणीत्यन्तेन आगमोत्थं ब्रह्मसाक्षात्कारहेतुभूतं परोक्ष-

ज्ञानमुक्तम् । साङ्गस्य सेतिहासपुराणस्य सधर्म शास्त्रस्य समीमांसस्य वेदस्य ब्रह्मज्ञानोत्पत्तिहेतुत्वात् । *अथ परा यया तदक्षरमधिगम्यते इत्युपासनाख्यं ब्रह्मसाक्षात्कारलक्षणं भक्तिरूपापन्नं ज्ञानम् । *यत्त-दद्रेश्यमग्राह्यमित्यादिना परोक्षापरोक्षरूपज्ञानद्वयवि-षयस्य परस्य ब्रह्मणस्स्वरूपमुच्यते । * यथोर्णना-भिस्सृजते गृह्णते चेत्यादिना यथोक्तस्वरूपात्परस्मा-दब्रह्मणोऽक्षरात्कृत्स्नस्य चेतनाचेतनात्मकप्रपञ्चस्यो. त्पत्तिरुक्ता, विश्वमिति वचनान्नाचेतनमात्रस्य । *तपसा चीयते ब्रह्म ततोऽन्नमभिजायते । अन्नात्प्राणो मनस्सत्यं लोकाः कर्मसु चामृतम् । इति ब्रह्मणो विश्वोत्पत्तिप्रकार उच्यते । तपसा–ज्ञानेन. * यस्य ज्ञानमयं तपः इति वक्ष्यमाणत्वात् ; चीयते–उपची-यते, *बहु स्यामिति सङ्कल्परूपेण ज्ञानेन ब्रह्म सृष्टयुन्मुखं भवतीत्यर्थः । ततोऽन्नमभिजायते–अद्यत इत्यन्नम्, विश्वस्य भोक्तृवर्गस्य भोग्यभूतं भूतसूक्ष्म-मव्याकृतं परस्माद्ब्रह्मणो जायत इत्यर्थः । प्राण-मनः प्रभृति च स्वर्गापवर्गरूपफलसाधनभूतकर्मपर्यन्तं

सर्वं विकारजातं तस्मादेव जायते । ॐ यस्सर्वज्ञः स्सर्ववित् इत्यादिना सृष्ट्युपकरणभूतं सार्वज्ञ्यसत्य-सङ्कल्पत्वादिकमुक्तम् । सर्वज्ञात्सत्यसङ्कल्पात्परस्मा-द्ब्रह्मणोऽक्षरादेतत् कार्याकारं ब्रह्म नामरूपविभक्तं भोक्तृभोग्यरूपं च जायते ।

अनु०—(मु० १।१।५) उन दोनों में अपरा विद्या—ऋग्वेद यजुर्वेद...' इत्यादि श्रुति से प्रारम्भ करके 'धर्मशास्त्राणि' इस श्रुति पर्यन्त, आगमजन्य ब्रह्म साक्षात्कार के हेतु भूतपरोक्ष ज्ञान को कहा गया है । क्योंकि अङ्गों (व्याकरण, शिक्षा, कल्प, निरुक्त, छन्दशास्त्र तथा ज्योतिष) इतिहासों (श्रीरामायण तथा महाभारत) पुराणों, धर्मशास्त्रों तथा मीमांसाके साथ साथ वेद ब्रह्म विषयक ज्ञान की उत्पत्ति के साधन हैं । 'इसके पश्चात् परा विद्या वर्णित की जाती है—'जिसके द्वारा वह अक्षर ब्रह्म जाना जाता है ।' इत्यादि श्रुति के द्वारा उपसना पर पर्याय भूत ब्रह्म के साक्षात्कार स्वरूप भक्ति स्वरूप ज्ञान कहा गया है । 'यत्तदद्रेश्यमग्राह्यम्...' इत्यादि श्रुति के द्वारा परोक्ष एवं अपरोक्ष रूप दोनों ज्ञानों के विषय भूत ब्रह्म के स्वरूप को बतलाया गया है । 'जिस तरह ऊर्णनाभि [मकड़ा] जाल को स्वयं बनाता है तथा स्वयं ही ग्रहण भी कर जाता है' इत्यादि श्रुति के द्वारा उपर्युक्त श्रुतियों में वर्णित उपर्युक्त स्वरूप वाले

अक्षर स्वरूप परं ब्रह्म से ही सम्पूर्ण चेतनाचेतनात्मक जगत् की सृष्टि होती है, यह कहा गया है। विश्वम् शब्द इस अर्थ को सूचित करता है कि ब्रह्म से केवल जड़ मात्र की ही उत्पत्ति नहीं होती अपितु चेतन का भी कारण परं ब्रह्म ही है। सत्य सकल्प ज्ञानके द्वारा ब्रह्म सृष्ट्युन्मुख होता है उसी परंब्रह्म से प्रकृति की उत्पत्ति होती है। प्रकृति से मुख्यप्राण अन्त:करण, भोक्तृ वग, स्वर्ग आदि लोक तथा अमृतत्व के साधन भूत कर्मों की उत्पत्ति होती है। इस [मु० १।१।६] इस श्रुति में विश्व की उत्पत्ति का प्रकार वर्णित है। (उक्त मु० १।१।६ श्रुति का शब्दार्थ इस प्रकार है।) तपसा— ज्ञान के द्वारा- आगे कहा भी जायेगा 'जिस परं ब्रह्म की सत्य संकल्प रूपी तपस्या है।' चीयते—उपचित होता है, यानी बढ़ता है। अर्थात "मैं समष्टि सृष्टि से व्यष्टि सृष्टि में आकर एक से अनेक हो जाऊं।' इस सत्य संकल्प रूपी ज्ञान के द्वारा ब्रह्म सृष्ट्युन्मुख होता है। ततोऽन्नमभिजायते--अद्यते इस श्रौत व्युत्पत्ति के अनुसार भोग्य वर्ग को अन्न शब्द से अभिहित किया जाता है। सम्पूर्ण भोक्ताओं का भोग्य भूत भूतों की सूक्ष्मावस्था रूप प्रकृति परं ब्रह्म से ही उत्पन्न होती है। प्राण से लेकर मन पर्यन्त तथा स्वर्ग एवं मोक्ष की प्राप्ति रूप फलों के साधन भूत कर्म पर्यन्त सम्पूर्ण विकार समुदाय उस ब्रह्म से ही उत्पन्न होता है। जो सभी वस्तुओं को सामान्य रूप से तथा विशेष रूप से जानता है' इत्यादि (मु० १।१।१०) श्रुतिमें सृष्टि के कारण भत सर्वज्ञता

सत्य संकल्प आदि गुण वर्णित हैं। सर्वज्ञ, सत्य संकल्प, अक्षर परंब्रह्मसे ही विभक्त नाम रूप वाले भोक्ता एवं भोग्य रूप कार्याकार वाली (प्रकृति) साक्षात् उत्पन्न होती है, और उससे विभक्त नाम रूप वाले भोक्ता भोग्य वर्गकी सद्वारक सृष्टि होती है।

मूल—*तदेतत्सत्यमिति परस्य ब्रह्मणो निरुपाधिकसत्यत्व-मुच्यते। *मन्त्रेषु कर्माणि कवयो यान्यपश्यंस्तानि त्रेतायां बहुधा सन्ततानि, तान्याचरत नियतं सत्य-कामाः इति सार्वज्ञ्यसत्यसङ्कल्पत्वादिकल्याणगुणाकर मक्षरं पुरुषं स्वतस्सत्यं कामयमानास्तत्प्राप्तये फला-न्तरेभ्यो विरक्ता ऋग्यजुस्सामाथर्वसु कविभिर्दृष्टानि वर्णाश्रमोचितानि त्रेताग्निषु बहुधा सन्ततानि कर्मा-ण्याचरतेति *एष वः पन्थाः इत्यारभ्य * एष वः पुण्यस्सुकृतो ब्रह्मलोकः इत्यन्तेन कर्मानुष्ठानप्रकारं; श्रुतिस्मृतिचोदितेषु कर्मस्वेकतरकर्मवैधुर्येऽपीतरेषाम-नुष्ठितानामपि निष्फलत्वम्, अयथानुष्ठितस्य चान-नुष्ठितसमत्वमभिधाय *प्लवा ह्येते अदृढा यज्ञरूपा अष्टादशोक्तमवरं येषु कर्म। एतच्छ्रेयो येऽभिन-न्दन्ति मूढा जरामृत्यू ते पुनरेवापि यन्ति। इत्या-दिना फलाभिसन्धिपूर्वकत्वेन ज्ञानविधुरतया चावरं

कर्माचरतां पुनरावृत्तिमुक्त्वा * तपश्श्रद्धे ये ह्युप-
वसन्तीत्यादिना पुनरपि फलाभिसन्धिरहितं ज्ञानिना-
ऽनुष्ठितं कर्म ब्रह्मप्राप्तये भवतीत प्रशस्य *परीक्ष्य
लोकानित्यादिना केवलकर्मफलेषु विरक्तस्य यथोदि-
तकर्मानुगहीतं ब्रह्मप्राप्त्युपायभूतं ज्ञानं जिज्ञासमा-
नस्य च आचार्योपसदनं विधाय * तदेतत्सत्यं यथा
सुदीप्तात् इत्यादिना *सोऽविद्याग्रन्थिं विकिरतीह
सोम्येत्यन्तेन पूर्वोक्तस्याक्षरस्य भूतयोनेः परस्य ब्रह्मणः
परमपुरुषस्यानुक्तैस्स्वरूपगुणैस्सह सर्वभूतान्तरात्मतया
विश्वशरीरत्वेन विश्वरूपत्वम्, तस्माद्विश्वसृष्टिं च
विस्पष्टमभिधाय *आविस्सन्निहितमित्यादिना तस्यै-
वाक्षरस्याव्याकृतात्परतोऽपि पुरुषात्परभूतस्य परस्य
ब्रह्मणः परमव्योम्नि प्रतिष्ठितस्यानदधिकातिशया-
नन्दस्वरूपस्य हृदयगुहायामुपासनप्रकारम् उपासनस्य
च परभक्तिरूपत्वमुपासीनस्याविद्याविमोकपूर्वकं ब्रह्म-
समं ब्रह्मानुभवफलं चोपदिश्योपसंहृतम्।

अनु०— 'तदेतत् सत्यम्' (मु० १।२।१) श्रुति
परं ब्रह्म की स्वाभाविक सत्यता को बतलाती है। 'अतो-

न्द्रिय विषयों का भी साक्षात्कार करने में समर्थ ऋषियों ने वेदों में जिन अग्निहोत्र आदि कर्मों का साक्षात्कार किया, वे कर्म गार्हपत्य आदि वैतानिक अग्नियों में आजीवन अनुष्ठेय होने के कारण अधिकारी, मन्त्र और फल के भेद से अनेक प्रकार से विहित हैं। हे स्वतः सत्य परं ब्रह्म को चाहने वाले फलाभि संधि रहित सन्तों उन कर्मों का अनुष्ठान करो।' इस (१।२।१) श्रुति में बतलाया गया है कि निरुपाधिक सत्य सर्वज्ञाता सत्य सङ्कल्प आदि कल्याण गुणों के आकर अक्षर पुरुष को चाहने वाले, और परं ब्रह्म की प्राप्ति के लिए किसी दूसरे फल की चाहना नहीं करने वाले ब्रह्म ज्ञानियों के द्वारा 'ऋग्वेद, यजुर्वेद सामवेद और अथर्ववेद में, जिन वर्णों और आश्रमों के अनुकूल कर्मों का साक्षात्कार किया गया तथा जो कर्म गार्हपत्य आदि वैतानिक अग्नियों अनेक प्रकार से अधिकारी मन्त्र और कम के भेद से विस्तृत हैं, उन कर्मों का अनुष्ठान करो। 'एष वः पन्थाः' इस (१।२।१) श्रुति से प्रारम्भ करके 'एष वः पुण्यः सुकृतो ब्रह्मलोकः' (मु० १।१।६) इस श्रुति पर्यन्त कर्मोके अनुष्ठान का प्रकार, श्रुतियों तथा स्मृतियों में विधि रूप से विहित कर्मों में एक प्रकार के कर्मों के अभाव में भी दूसरे प्रकार के कर्मों के अनुष्ठान को भी व्यर्थ तथा उचित रूप से जिन कर्मों का अनुष्ठान नहीं किया गया है वे भी अनुष्ठित कर्म अनुष्ठान नहीं किये गये के ही समान हैं, इस अर्थ को कहकर (मु० १। २।७) जो यजमान सोलह ऋत्विक पत्नी और स्वयं को मिलाकर

अठारह व्यक्तियों के अधीन होने वाले काम्य यज्ञों का अनुष्ठान संसार सागर को पार करने के लिए अपनाते हैं, उनके वे यज्ञ रूपी साधन पार करने में असमर्थ जीर्ण नौका के समान है, जिन यज्ञों में अष्टादश स्मृतियों में वर्णित कर्म अंग भूत होते है, वे कर्म भी साधन भूत नहीं है। जो अज्ञ व्यक्ति इनको कल्याण के साधन रूप से मानते हैं, वे बार,बार जरा और मृत्यु के चक्कर में पड़ते हैं। इत्यादि श्रुति के द्वारा यह बतलाया गया है कि फलाभि सन्धियुक्त ज्ञान रहित कर्मों का आचरण करनेवाले पुनः संसारमें नहीं आते हैं। 'और जो फलाभि संधि रहित होकर जंगलों में निवास करते हुए प्रेम पूर्वक ब्रह्म की उपासना करते हैं (मु० १।२।११) इत्यादि के द्वारा यह प्रशसा की गई हैं कि फलाभिसंधि रहित ज्ञानियों के द्वारा अनुष्ठित निष्काम कर्म के ब्रह्म प्राप्ति का साधन है। 'परीक्ष्य लोकान्—' (मु० १।२।१२) इत्यादि श्रुति के द्वारा बतलाया गया है कि जो केवल कर्मों के फलों से विरक्त है, तथा श्रुतियो तथा स्मृतियों में जिस तरह के कर्म बतलाये गये हैं, उस तरह के कर्मो का अनुष्ठान करते हुए ब्रह्म प्राप्ति के उपाय भूत ज्ञान को जानने की इच्छा वाले पुरुष को आचार्य के सन्निकट जाना चाहिये। पुनः [मु० २।१।१] 'तदेतन् सत्यम् यथा सुदिप्तात्' इस वाक्य से लेकर 'सोऽविद्याग्रन्थि विकरतीह सोम्य' (२।१।१०) इस श्रुति पर्यन्त पूर्वोक्त, अक्षर, सभी भूतों के कारण स्वरूप परम ब्रह्म, परम पुरुष के जिन स्वरुपों एवं गुणों को पहले नहीं

कहा गया है, उनके साथ ही यह बतलाया गया है कि वह सभी भूतों की अन्तरात्मा है तथा सम्पूर्ण विश्व उसका स्वरूप है। और उस परं ब्रह्म से सम्पूर्ण जगत् की सृष्टि को स्पष्ट रूप से बतलाया गया है। (मु० २।२।१] 'आविः सन्निहितम्' (अर्थात् योगियों के प्रत्यक्ष) इत्यादि श्रुति के द्वारा उसी प्रथम द्वितीय खण्ड में प्रतिपादित प्रकृति से अव्याकृत प्रकृति से श्रेष्ठ पुरुष से भी श्रेष्ठ तृतीय खण्ड में प्रतिपादित परम व्योम (वैकुण्ठ) में रहने वाले, सीमातीत सर्वोत्कृष्ट आनन्द स्वरूप परं ब्रह्मकी उपासना का वह परं ब्रह्म की उपासना भक्ति स्वरुप ही है, तथा परं ब्रह्म की उपासना करने वाले की अविद्या का नाश होकर वह ब्रह्म के समान ही हो जाता है, यह ब्रह्म की उपासना के फल का उपदेश करके इस ब्रह्म विद्या का उपसंहार किया गया है।

मूल—अत एव विशेषणाद्भेदव्यपदेशाच्च नास्मिन्प्रकरणे प्रधानपुरुषौ प्रतिपाद्येते ॥

भेदव्यपदेशोऽपि हि ताभ्यां परस्य ब्रह्मणोऽत्र विद्यते। *दिव्यो ह्यमूर्तः पुरुषस्स बाह्याभ्यन्तरो ह्यजः। अप्राणो ह्यमनाश्शुभ्रो ह्यक्षरात्परतः परः। इत्यादिभिः अक्षरादव्याकृतात्परो यस्समष्टिपुरुषः तस्मादपि परभूतोऽदृश्यत्वादिगुणकोऽक्षरशब्दाभिहितः परमात्मेत्यर्थः। अश्नुत इति वा; न क्षरतीति

वाऽक्षरम् । तदव्याकृतेऽपि स्वविकारव्याप्तया वा महदादिवन्नामान्तराभिलापयोग्यक्षरणाभावाद्वाऽक्षरत्वं कथञ्चित्तदुपपद्यते ॥ २३ ॥

अनु०—अतएव उपर्युक्त प्रकार से विशेषणों एवं भेद प्रतिपादन के द्वारा सिद्ध हो गया कि इस प्रकरण में प्रकृति एवं पुरुष का प्रतिपादन नहीं किया गया हैं । (अब तक परमात्मा के विशेषणों की व्याख्या ऊपर के अनुच्छेदों में की गई है अब भेद प्रतिपादन की व्याख्या करते हुए कहते हैं) इस ब्रह्मविद्या के प्रकरण में प्रकृति तथा पुरुषमे भेद भी प्रतिपादित किया ही गया है । (मु० २।१।२ श्रुतिमें बतलाया गया है कि) वैकुण्ठाख्य द्युलोक में निवास करने वाले, पाणिपादादि इन्द्रियों से रहित तथा नित्य एवं व्यापक होनेके कारण अमूर्त, सम्पूर्ण जगत् में आत्मा रूपसे व्यापक होनेके कारण पुरुष शब्दाभिधेय, सभी बाह्य एवं आभ्यन्तर वस्तुओं की आत्मा रूप से विद्यमान अज परमात्मा की प्राणादि के अधीन प्राणनादि सत्तारूप व्यापार नहीं होते । वह सभी विकारों से रहित होने के कारण शुभ्र है । वह अव्याकृत अक्षर प्रकृति से भी श्रेष्ठ जीवात्मा से भी श्रेष्ठ परमात्मा है ।' (यह श्रुति जीवात्मा और प्रकृति से भी परमात्मा को श्रेष्ठ बतलाकर परमात्मा का उन दोनों से भेद का प्रतिपादन करती है ।) उक्त श्रुति का अभिप्राय है कि अव्याकृत प्रकृति से भी श्रेष्ठ जो समष्टि पुरुष उससे भी श्रेष्ठ

अदृश्यत्वादि गुणवान् अक्षर शब्द से कहा जाने वाला परमात्मा है। अक्षर शब्द की दो तरह की व्युत्पत्ति है 'अश्नुते इति अक्षरम्' (अर्थात् जो स्वेतर को व्याप्य रूप से प्राप्त करे उसको अक्षर कहते हैं। अथवा जो विकृत न हो उसको अक्षर कहते हैं। इन दोनो व्युत्पत्तियों का समन्वय अव्याकृत प्रकृति में सम्भव है। प्रकृति अपने विकार भूत महदादि में व्यापक है (अतएव उसको अक्षर शब्द से अभिहित किया जाता है।। अथवा जिस तरह महदादि प्राकृतिक विकारों में नाम वाच्यत्वादि की योग्यता रूप विकार होता है उस तरह का विकार अव्याकृत प्रकृति में नहीं आता है अतएव उसकी अक्षरता किसी प्रकार से सिद्ध होती है।

टिप्पणी—अश्नुतेइति वा- इत्यादि वाक्य का अभिप्राय है कि अक्षर शब्द की दो प्रकार की व्युत्पत्ति होती है— रूढ और यौगिक। अश्नुते इति अक्षरम् इस व्युत्पत्ति में अक्षर शब्द की श्री भाष्यकार ने अवयव शक्तिका संकेत 'प्रोक्षणोष्वर्थ संयोगात्' इस पूर्व मीमाँसोक्त न्याय के अनुसार किया है। प्रोक्षणी शब्द की प्रोक्ष्यते सिच्यते आभिः इति प्रोक्षणी इस व्युत्पत्तिके अनुसार प्रोक्षणी शब्द का यौगिक अर्थ है जल किन्तु उसकी जल में रूढि नहीं है। वर्णों के वाचक अक्षर शब्द की व्याख्या करते हुए महाभाष्यकार कहते हैं—'अक्षरं न क्षरो विद्यात् अश्नोतेर्वा सरोऽक्षरम्।' अक्षर शब्द की अवयवार्थ का प्रदर्शन श्री भाष्यकार ने इसलिए प्रदर्शित किया है कि यदि

अक्षर शब्द प्रकृति में रूढ है तो फिर अक्षर शब्द से परमात्मा का क्यों अभिधान किया गया है ? तो इसका उत्तर है कि यद्यपि अक्षर शब्द को रूढि प्रकृति में है फिर भी प्रोक्षणी न्याय से अवयव शक्त्या अपने यौगिक अर्थ के द्वारा अक्षर शब्द निरुपाधिक रूप से परमात्मा को ही बतलाता है । क्योंकि वही स्वेतर समस्त वस्तुओं की आत्मा रूप से व्यापक है । प्रकृति तो अपने कार्यभूत महदादि त्रयोविंशति तत्त्वों की ही व्यापिका है । अतः सर्वज्ञत्वादि गुणवाम् सम्पूर्ण जगत् के अभिन्न निमित्तोपादान कारण भूत, सबों से महान् अक्षर शब्दाभिधेय परम पुरुष ही हैं ।

रूपोपन्यासाच्च । १ । २ । २४ ।।

मूल—*अग्निर्मूर्धा चक्षुषी चन्द्रसूर्यौ दिशश्श्रोत्रे वाग्विवृताश्च वेदाः । वायुः प्राणो हृदयं विश्वमस्य पद्भ्यां पृथिवी ह्येष सर्वभूतान्तरात्मा । इतीदृशं रूपं सर्वभूतान्तरात्मनः परमात्मन एव संभवति, अतश्च परमात्मा ।। २४ ।।

अनु०—इसलिए भी अदृश्यत्वादि गुणक परमात्मा ही हैं कि मु० २।१।४ श्रुति में वर्णित रूपसे सभी भूतों की अन्तरात्मा वही हो सकता है । यह सूत्रार्थ हुआ ।

(मु० २।१।४) श्रुति बतलाती है कि—जगत् शरीरक

परमात्मा का शिर स्थानीय (असौवैलोकोग्निः) इस श्रुति के अनुसार अग्नि शब्द वाच्य द्युलोक है। जगत् प्रकाशक महा-ज्योति रूप चन्द्र और सूर्य ही परमात्मा के दोनों नेत्र हैं। दिशायें ही उसके श्रोत्र है। परमात्मा के वागिन्द्रिय व्यापार स्वरूप ही वेद हैं। महावायु ही उसके जगत् रूपी शरीर का धारक प्राण है। सम्पूर्ण जगत् ही परमात्मा का हृदय है। पृथिवी ही उसके पैर हैं और स्वयं परमात्मा सभी भूतों की आत्मा रूप से उनके भीतर रहकर नियमन करने वाला है। इस तरह से श्रुत्युक्त रूप सभी भूतों की अन्तरात्मा परमात्मा ही हो सकता है, अतएव अदृश्यत्वादि गुणक परमात्मा ही हैं।

इस तरह अदृश्यत्वादि गुणाधिकरण की हिन्दो व्याख्या समाप्त हुई।

वैश्वानरस्साधारणशब्दविशेषात् ।१।२।२५।।

मूल—इदमामनन्ति च्छन्दोगाः *आत्मानमेवेमं वैश्वानरं संप्रत्यध्येषि तमेव नो ब्रूहीति प्रकम्य *यस्त्वेतमेवं प्रादेशमात्रमभिविमानमात्मानं वैश्वानरमुपास्ते इति। तत्र संदेहः— किमयं वैश्वानर आत्मा परमात्मेति शक्यनिर्णयः, उत नेति। किं प्राप्तम् ? अशक्य-

निर्णय इति । कुतः ? वैश्वानरशब्दस्य चतुर्ष्वर्थेषु प्रयोगदर्शनात्– जाठराग्नौ तावत् *अयमग्निर्वैश्वानरो येनेदमन्नं पच्यते यदिदमद्यते तस्यैष घोषो भवति यदेतत्कर्णावपिधाय शृणोति स यदोत्क्रमिष्यन्भवति नैनं घोषं शृणोतीति । महाभूततृतीये च- विश्वस्मा अग्निं भुवनाय देवा वैश्वानरं केतुमह्नामकृण्वन् । इति देवतायां च *वैश्वानरस्य सुमतौ स्याम राजा हि कं भुवनानामभिश्रीः इति । परमात्मनि च *तद्यात्मन्येव हृदय्येऽग्नौ वैश्वानरे प्रास्यत् इति; *स एष वैश्वानरो विश्वरूपः प्राणोऽग्निरुदयते इति च । वाक्योपक्रमादिषूपलभ्यमानान्यपि लिङ्गानि सर्वानुगुणतया नेतुं शक्यानीति ।

अनु०–(छा०उ० ५।११।६) आत्मानमेवेमं वैश्वानरं सम्प्रत्यध्येषि' इस वाक्य में आया हुआ वैश्वानर शब्द परमात्मा का ही वाचक है क्योंकि साधारण भी वैश्वानर शब्द को परमात्मा में पाये जाने वाले साधारण धर्मों के द्वारा विशेषित किया गया है। यह सूत्रार्थ हुआ ।

छान्दोग शाखा का अध्ययन करने वाले 'आप इस वैश्वानर आत्मा की ही उपासना करते हैं, अतएव उसी का हमें

उपदेश दें ?' (छा० ५।११।६) यहां से प्रारम्भ करके 'जो इस द्यु लोक आदि प्रदेशों में रहने वाले, इयत्ता रहित आत्मा वैश्वानर की उपासना करता है' (५।१८।१) इस श्रुति पर्यन्त सामाम्नान करते हैं। तो यहां सन्देह होता है कि—क्या इस श्रुति में वर्णित आत्मा वैश्वानर परमात्मा है, यह निर्णय किया जा सकता है ? अथवा नहीं ? कौन सा पक्ष माना जाय ? पूर्वपक्षी का कहना है कि वैश्वानर आत्मा का परमात्मा रूप से निर्णय नहीं किया जा सकता है। क्योंकि वैश्वानर शब्द का प्रयोग चार अर्थों में देखा जाता है— १-जाठराग्नि के अर्थ में—'यह अग्नि वैश्वानर है जो खाये हुए अन्न को पचाता है। उसी की आवाज़ सुनाई देती है जो कानों को बन्द करके सुनने पर सुनायी देती है। मृत्यु के समय कानों के छिद्रों को बन्द करके भी सुनने पर वह आवाज नहीं सुनायी देती है।' (बृ० उ० ७।६।१) इस श्रुति में प्रयुक्त वैश्वानराग्नि शब्द जाठराग्नि को बतलाता है। २—महाभूत तृतीय (अग्नि) के अर्थ में—सम्पूर्ण विश्व का उपकार करने के लिए देवताओं ने वैश्वानर अग्नि का आदित्य के रूप में परिणित किया' (ऋ० सं० १०।८८।१२) इस ऋचा में वैश्वानर शब्द महाभूत तृतीय अग्नि का वाचक है। देवता के अर्थ में—हम वैश्वनर (अग्नि देवता) की अनुकूल बुद्धि का विषय बनें, निश्चय ही अग्नि देवता सभी भुवनों के ऐश्वर्योंसे सुशोभित करते हैं। (यजु०का० १।५।११ ऋ० सं० १।६।८।१) (इस मन्त्रमें आया हुआ वैश्वानर

शब्द अग्नि देवता का वाचक है। क्योंकि इस श्रुति में उपासक यह प्रार्थना करता है कि हम वैश्वानर की कृपा का पात्र बनें। और कृपा किसी चेतन का ही धर्म हो सकता है जड़ का नहीं।) ४—परमात्मा के अर्थ में भी "हृदय पुण्डरीक में ही विद्यमान सर्वाधिक हितकारी वैश्वानर परमात्मा में हिरण्मय को चाहा।" (यजु० अष्ट० ३ प्रश्न ११ अनु० ८) तथा प्रसिद्ध यह जगत् शरीरक जगत् को प्राणरूप से धारण करने वाला वैश्वानर अग्नि उदित (प्रकट होते हैं।' (यजु०अष्ट० ३।१।७) इन दोनों वाक्यों में वैश्वानर शब्द परमात्मा का ही वाचक है। वाक्य समूह रूप इस विद्या के उपक्रम, मध्य तथा अन्त में पाये जाने वाले लिङ्गों का भी इन सभी अर्थों के अनुकूल निर्वाह किया ही जा सकता है। अतएव (छा० ५।११।६) श्रुति का वैश्वानर शब्द परमात्मा का ही वाचक है, यह निर्णय नहीं किया जा सकता है।

टिप्पणी—पहले के सूत्र 'रूपोपन्यासाच्च' इस सूत्र की व्याख्या करते हुए परमात्मा को त्रैलोक्य शरीरक बतलाया गया है। अब प्रश्न यह उठता है कि त्रैलोक्य शरीरक परमात्म व्यतिरिक्त भी सुने जाते हैं। अतएव यहाँपर शंका होने से इस वैश्वानराधिकरण की संगति बैठती है। यद्यपि वैश्वानर विद्या का उपक्रम ही आत्मा और ब्रह्म शब्द से होता है। इस विद्या का उपसंहार भी उसके ही अनुकूल हो सकता है। फिर भी वाजसनेय संहिता में इस प्रकरण का उपक्रम अग्नि तथा

वैश्वानर शब्द के द्वारा होता है। अतएव सन्देह होता है कि वैश्वानर शब्द, जब जाठराग्नि, महाभूत तृतीय, देवता विशेष और परमात्मा के अर्थ में समानरूप से प्रयुक्त होता है, उस स्थिति में कैसे यह कहा जा सकता है कि वैश्वानर शब्द यहाँ पर परमात्मा का ही वाचक है?

मूल– एवं प्राप्तेऽभीधीयते—वैश्वानरस्साधारणशब्द-विशेष्वत। वैश्वानरः पर एवात्मा, कुतः? साधारण-शब्द विशेषात्-विशेष्वत् इति विशेषः, साधारणस्य वैश्वानरशब्दस्य परमात्मासाधारणैर्धर्मैर्विशेष्यमाणत्वा-दित्यर्थः। तथाहि—औपमन्यवादयः पञ्चेमे महर्षयस्स-मेत्य *को न आत्मा किं ब्रह्मेति विचार्य *उद्दालको ह वै भगवन्तोऽयमारुणिस्संप्रतीममात्मानं वैश्वानरमध्येति तं हन्ताभ्यागच्छामेत्युद्दालकस्य वैश्वानरात्मविज्ञानमव-गम्य तमभ्याजग्मुः। स चोद्दालक एतान्वैश्वानरात्मजिज्ञा-सूनभिलक्ष्यात्मनश्च तत्राकृत्स्नवेदित्वं मत्वा *तान् होवाच अश्वपतिर्वै भगवन्तोऽयं केकयस्संप्रतीममात्मानं वैश्वानरमध्येति तं हन्ताभ्यागच्छामेति। ते चोद्दालक-षष्ठास्तमश्वपतिमभ्याजग्मुः। स च तान्महर्षीन्यथार्हं पृथ-गभ्यर्च्य *न मे स्तेनः इत्यादिना *यक्ष्यमाणो ह वै

भगवन्तोऽहमस्मीत्यनतेनात्मनो व्रतस्थतया प्रतिग्रहयोग्यतां ज्ञापयन्नेव ब्रह्मविद्भिरपि प्रतिषिद्धपरिहरणीयतां विहित-कर्मकर्तव्यतां च प्रज्ञाप्य *यावदेकैकस्मा ऋत्विजे धनं दास्यामि तावद्भगवद्भ्यो दास्यामि वसन्तु भवन्तः इत्य-बोचत् । ते च मुमुक्षवो वैश्वानरमात्मानं जिज्ञासमानास्त-मेवात्मानमस्माकं ब्रूहीत्यवोचन् । तदेवं *को न आत्मा किं ब्रह्मेति जीवात्मनामात्मभूतं ब्रह्म जिज्ञासमानैस्तज्ज्ञ-मन्विच्छद्भिर्वैश्वानरात्मज्ञसकाशमागम्य पृच्छ्यमानो वैश्वानरात्मा परमात्मेति विज्ञायते । आत्मब्रह्मशब्दा-भ्यामुपक्रम्य पश्चात्सर्वत्रात्मवैश्वानरशब्दाभ्यां व्यव-हाराश्च ब्रह्मशब्दस्थाने निर्दिश्यमानो वैश्वानरशब्दो ब्रह्मैवाभिधत्त इति विज्ञायते । किञ्च *स सर्वेषु लोकेषु सर्वेषु भूतेषु सर्वेष्वात्मस्वन्नमत्ति *तद्यथेषीकतूलमग्नौ प्रोतं प्रदूयेतैवं हास्य सर्वे पाप्मानः प्रदूयन्ते इति च वक्ष्यमाणं वैश्वानरात्मविज्ञानफलं वैश्वानरात्मानं परं ब्रह्मेति ज्ञापयति ॥२५॥

उपर्युक्त प्रकार का पूर्वपक्ष उपस्थित होने पर सिद्धान्ती कहते हैं—वैश्वानरः साधारण शब्द विशेषात् । वैश्वानर शब्द

वाच्य परमात्मा ही है क्योंकि—'साधारण शब्द विशेषात् विशेष्यते इस कर्म व्युत्पति के अनुसार सूत्रगत विशेष शब्द विशेष्यमाण का वाचक है ! अतएव साधारण (नानार्थक) वैश्वानर शब्द के परमात्मा में ही केवल पाये जाने वाले धर्मों के द्वारा विशेषित किये जाने के कारण (यह 'साधारण शब्द विशेषात्' सूत्रांश का अर्थ हुआ। क्योंकि-औपमन्यव (उपमन्यु महर्षि के पुत्र) प्रभृति ये पाँच महर्षियों ने-हमारी आत्मा कौन है ? ब्रह्म कौन है? यहविचार करके—हे ऐश्वर्य सम्पन्न महर्षियों निश्चय ही ये आरुणी के पुत्र उद्दालक है जो सम्प्रति इस वैश्वानर नामक आत्म तत्त्व को जानते हैं—अतएव हम उन्हीं के पास चलें। इस तरह से उद्दालक को वैश्वानरात्म विज्ञान का ज्ञाता जान करके पाँचो [औपमन्यव, सत्ययज्ञ, पौलुषि, वुडिल और आश्वतराश्वि] महर्षि उद्दालक के पास आये। और ये उद्दालक भी इन पाँचों को वैश्वानर आत्मा का जिज्ञासु समझ कर और स्वयं को उस तत्त्व का पूर्ण ज्ञाता न समझकर उन आये हुए महर्षियों से कहा-हे ऐश्वर्य सम्पन्न महर्षियों यह केकय देश का राजा अश्वपति है जो इस समय वैश्वानर आत्मा को जानता है; अतएव हम सभी उसी के पास चलें।' उद्दालक को लेकर वे छहो महर्षि उस अश्वपति के पास गये। उस राजा ने उन समागत महर्षियों को पृथक-पृथक यथोचित पूजा की उसके पश्चात् अपनी वास्तविक स्थिति का निवेदन करते हुए कहा—'न मे स्तेनो इत्यादि' अर्थात् 'मेरे राज्य में न तो कोई

चोर है ? इत्यादि । 'भगवन मैं यज्ञ करने वाला हूँ ।' इस वाक्य के द्वारा अपने को व्रत स्थित रूप से तथा प्रतिग्रह की योग्यता को बतलाते हुए तथा उस दान का ग्रहण किया जाना अप्रतिषिद्ध बतलाकर तथा शास्त्रों द्वारा विहित कर्म की कर्तव्यता को बतलाकर राजा ने कहा–"आप हमारी यजनशाला में ठहरें। मैं जितना धन एक-एक ऋत्विकों को दूंगा उतना ही धन आप लोगों को भी दूंगा।" और वे सभी मुमुक्षु वैश्वनरात्मा को ही जानने की इच्छा करते हुए कहे कि आप हमें वैश्वानरात्मा का ही उपदेश दें। वह इस प्रकार से छान्दोग्योपनिषद् में वर्णित है— 'हमारी आत्मा कौन ? है ब्रह्म कौन है ?' इस तरह से जीवात्मा के भी आत्मा ब्रह्म को जानने की इच्छा करने वाले उस वैश्वानरात्मा के जानकार व्यक्ति का अन्वेषण करने वाले मुमुक्षुओं के द्वारा वैश्वानर-आत्मा के जानकार राजा अश्वपति के सन्निकट में आकर पूछा जाने वाला वैश्वानरात्मा परमात्मा ही है। साथ ही आत्मा और ब्रह्म शब्द के द्वारा जिसका उपक्रम करके बाद में सब जगह आत्मा और वैश्वानरात्मा शब्द का जो व्यवहार किया गया है, उस व्यवहार के द्वारा भी ब्रह्म शब्द के स्थान पर आया हुआ वैश्वानर ब्रह्म को ही बतलाता है, यह पता चलता है। साथ ही वह वैश्वानरात्मा विद्या का विज्ञाता सभी लोकों, सभी भूतों तथा आत्माओं में अपने योग्य भूत परमात्मकत्वानुसंधान को प्राप्त करता है।' जिस तरह अग्नि में डाला गया

शरपत का भूआ जल जाता है और पुनः नहीं उत्पन्न होता है, उसी तरह वैश्वानर विद्या के जानकार मुमुक्षु पुरुष के सभी पाप जल कर भस्म हो जाते हैं।' इस श्रुति के द्वारा कहा जाने वाला वैश्वानरात्मा विज्ञान का फल बतलाता है कि इस विद्या के प्रकरण में सर्वत्र वैश्वानर शब्द का प्रयोग परमात्मा के ही लिए हुआ है।

इतश्च वैश्वानरः परमात्मा—

५८ स्मर्यमाण मनुमानं स्यादिति । १ । २ । २६ ॥

मू०:—द्युप्रभृतिपृथिव्यन्तमवयवविभागेन वैश्वानरस्य रूप-मिहोपदिश्यते । तच्च श्रुतिस्मृतिषु परमपुरुषरूपतया प्रसिद्धम् । तदिह तदेवेदमिति स्मर्यमाणं—प्रत्यभिज्ञाय-मानं वैश्वानरस्य परमपुरुषत्वे अनुमानं—लिङ्गमित्यर्थः; इतिशब्दः प्रकारवचनः, इत्थंभूतं रूपं प्रत्यभिज्ञायमानं वैश्वानरस्य परमात्मत्वेऽनुमानं स्यात् । श्रुतिस्मृतिषु हि परमपुरुषस्येत्थं रूपं प्रसिद्धम् । यथा आथर्वणे *अग्नि-मूर्धा चक्षुषी चन्द्रसूर्यौ दिशिश्श्रोत्रे वाग्विवृताश्च वेदाः । वायुः प्राणो हृदयं विश्वमस्य पद्भ्यां पृथिवी ह्येष सर्वभूतान्तरात्मा ॥ इति । अग्निरिह द्युलोकः, *असौ वै लोकोऽग्निः इति श्रुतेः । स्मरन्ति च मुनयः

*द्यां मूर्धानं यस्य विप्रा वदन्ति खं वै नाभिं चन्द्रसूर्यौ च नेत्रे। दिशश्श्रोत्रे विद्धि पादौ क्षितिं च सोऽचिन्त्यात्मा सर्वभूतप्रणेता ।। इति, *यस्याग्निरास्यं द्यौर्मूर्धा खं नाभिश्चरणौ क्षितिः। सूर्यश्चक्षुर्दिशश्श्रोत्रं तस्मै लोकात्मने नमः ।। इति च।

अनु०—इसलिये भी वैश्वानर शब्द वाच्य परमात्मा ही है कि स्मर्यमाणमनुमानं स्यादिति १। २। २६।

अर्थात्–श्रुतियों तथा स्मृतियों ने वैश्वानर को बार–बार परमात्मा रूप से स्मरण किया गया है वह बार–बार वैश्वानर का परमात्मा रूप से स्मरण ही उसके परमात्मात्व के अनुमान का साधक है। यह सूत्रार्थ हुआ।

इस वैश्वानर विद्या में द्युलोक से लेकर पृथिवी लोक पर्यन्त उसके अवयवों का विभाग करके वैश्वानर के रूप (शरीर) का उपदेश दिया गया है। और श्रुतियों तथा स्मृतियों में परम पुरुष रूप से प्रसिद्ध है। इसलिए इस वैश्वानर विद्या में वही यह वैश्वानर स्मर्यमाण है, इस प्रकार से होने वाली प्रत्यभिज्ञा वैश्वानर के परम पुरुषत्व का साधन है। सूत्र का अनुमान शब्द साधन का वाचक है। सूत्र का इति शब्द प्रकार का वाचक हैं। इस तरह सूत्र वाक्य का अर्थ हुआ कि वैश्वानर के परमात्मात्व का साधक इस प्रकार का प्रत्यभिज्ञान होने वाला उसका श्रुति स्मृति प्रसिद्ध रूप ही है। श्रुतियों

तथा स्मृतियों में परमात्मा का रूप (शरीर) निम्न प्रकार से प्रसिद्ध है। (मु० २ । १ । ४) इस परमात्मात्मा का अग्नि (द्युलोक) ही शिर है, चन्द्रमा और सूर्य नेत्र हैं. दिशायें हीं ही उनके श्रोत्र हैं, तथा बिस्तृत वेद ही उनकी वाणी है, वायु ही उसके प्राण हैं. सम्पूर्ण विश्व ही उसका हृदय है। इसके दोनों पैर पृथिवी ही है तथा यह स्वयं सभी भूतों की अन्तरात्मा है। यदि कहें कि वैश्वानर विद्या में परमात्मा का शिर द्युलोक बतलाया गया और उदाहृत श्रुति में उसका शिर अग्नि बतलाया गया है क्यो ? तो इसका उत्तर है कि इस श्रुति का अग्नि शब्द भी द्युलोक का ही वाचक है। क्योंकि (बृ० ८ । २ । ६) श्रुति में बतलाया गया है कि 'निश्चय ही विप्रकृष्ट द्युलोक अग्नि ही है।' मुनिगण भी ऐसा ही स्मरण करते हैं-म० भा० शा० पा० रा०धर्म ४७) में महर्षि वादरायण कहते हैं-ब्रह्मज्ञानी जन जिस परमात्मा का द्युलोक को शिर आकाश को नाभि, चन्द्र तथा सूर्य को नेत्र, दिशाओं को श्रोत्र तथा पृथिवी को पैर बतलाते हैं उसी सभी भूतों के स्रष्टा अचिन्त्य परमात्मा को आत्मा जानो।" तथा (म० भ० शा० प० राजधर्म ७०) में महर्षि वादरायण कहते हैं-जिस परमात्मा का मुख अग्नि (पञ्च भूतों में अन्यतम) है, शिर द्युलोक है, आकाश नाभि है, पृथिवी ही दोनों पैर है, सूर्य नेत्र हैं तथा दिशायें ही श्रोत हैं, उस सम्पूर्ण जगत की आत्मा भूत परमात्मा को नमस्कार है।

मूल०—इह च द्यु प्रभृतयो वैश्वानरस्य मूर्धाद्यवयवत्वेनोच्यन्ते।

तथा हि—तैरौपमन्यवप्रभृतिभिर्महर्षिभिः ❀आत्मानमेवेमं वैश्वानरं संप्रत्यध्येषि तमेव नो ब्रूहीति पृष्टः केकयस्तेभ्यो वैश्वानरात्मानमुपदिदिक्षु विशेषप्रश्नान्यथानुपपत्त्या वैश्वानरात्मन्येतैः किञ्चित् ज्ञातं किञ्चिदज्ञातमिति विज्ञाय ज्ञाताज्ञातांशबुभुत्सया तानेकैकं पप्रच्छ। तत्र ❀औपमन्यव कं त्वमात्मानमुपास्से इति पृष्टे ❀दिवमेव भगवो राजन्निति तेन चोक्ते दिवि तस्य पूर्णवैश्वानरात्मबुद्धिं निवर्तयन्वैश्वानरस्य द्यौर्मूर्धेति चोपदिशंस्तस्या वैश्वानरांशभूताया दिवः सुतेजा इति गुणनामधेयं प्राचिख्यपत्। एवं सत्ययज्ञादिभिरादित्यवाय्वाकाशाप्पृथिवीनामेकैकनैकैकमुपास्यमानतया कथितानां, विश्वरूपः, पृथग्वर्त्मा, बहुलो, रयिः, प्रतिष्ठा इत्येकैकगुणनामधेयानि वैश्वानरात्मनश्चक्षुः—प्राणसंदेह।स्ति।प।दात्वमत्र।णं चोपदिष्टम्। सन्देहो मध्यकाय उच्यते। अत एवंभूतद्यु मूर्धत्वादिविशिष्टं परमपुरुषस्यैव रूपमिति वैश्वानरः परमपुरुष एव॥ २६॥

अनु—और यहां पर (वैश्वानर विद्या के प्रकरण में) द्यु लोक आदि वैश्वानर के मूर्धा आदि अवयव रूप से कहे गये हैं। वह इस तरह से कि उन औपमन्यव प्रभृति महर्षियों के

द्वारा यह पूछे जाने पर कि आप इस समय इस आत्मा को ही वैश्वानर के रूप से जानते हैं, उसको हमें बतलाये, केकय राजा अश्वपति ने उन सबों को वैश्वानरात्मा का उपदेश देने की इच्छा से विशेष प्रश्न रूपी अन्यथानुपपत्ति क्योंकि उन महर्षियों ने आत्मा अथवा ब्रह्म आदि शब्दों के द्वारा प्रश्न न करके वैश्वानर शब्द के माध्यम से प्रश्न किया था। यदि इस वैश्वानर आत्मा के विषय में नहीं जानते तो किस तरह वैश्वानर शब्द के माध्यम से प्रश्न करते ? अतएव) के द्वारा यह जान-कर कि इन सबों के द्वारा वैश्वानर आत्मा के विषय में कुछ जान लिया गया है तथा कुछ नहीं जाना गया है, क्योंकि (सर्वथा ज्ञात अथवा सर्वथा अज्ञात वस्तु के विषय में जिज्ञासा नहीं होती है) उनके ज्ञातांश तथा अज्ञातांश को जानने की इच्छा से उन सबों से पृथक्-पृथक् पूछा । उसमें-हे उपमन्यु महर्षि के पुत्र तुम किसे आत्मा रूप से उपासना करते हो ?' यह पूछे जाने पर-उपमन्यु महर्षि के पुत्र औपमन्यव ने कहा-हे ऐश्वर्य सम्पन्न राजन्। मैं द्युलोक को ही।' इस तरह से उक्त महर्षि के द्वारा कहे जाने पर. उस महर्षि की द्युलोक में पूर्ण-वैश्वानरात्मा की बुद्धि का निराश करते हुए तथा द्युलोक को वैश्वानर का मूर्धा (शिर) है, यह उपदेश देते हुए-उस वैश्वानर आत्मा के अंशभूत द्युलोक की गुणानुसार (अन्वर्थ संज्ञा) बताते हुये कहा-कि यह द्युलोक सुतेजा है। (सभी प्रकाशपूर्ण नक्षत्र आदि से युक्त होने के कारण द्युलोक को सुतेजा कहा गया है) इसी तरह सत्ययज्ञ, आदि पृथक महर्षियों द्वारा वैश्वानर आत्मारूप से उपास्य कहे गये-क्रमशः

आदित्य, वायु, आकाश जल, एवं पृथिवी की क्रमशः गुणानुसार विश्वरूप, पृथग्वर्त्मा, वहुल, रयि तथा प्रतिष्ठा इन अन्वर्थ संज्ञाओं को कह कर, इनके क्रमशः वैश्वानर आत्मा का चक्षु प्राण, सन्देह, वस्ति, तथा पाद रूप अवयवत्व का उपदेश दिया। सन्देह मध्यकाय (शरीर के बीच के भाग कमर) को कहते हैं। अतएव इस प्रकार का द्युमूर्धत्वादि विशिष्ट रूप परम-पुरुष परमात्मा का ही हो सकता है, इसलिए वैश्वानर शब्द से परमपुरुष परमात्मा ही कहे गये हैं।

टिप्पणीः—राजा के द्वारा पूछे जाने पर सत्ययज्ञ महर्षि ने बतलाया कि वे आदित्य को ही वैश्वानर आत्मारूप से उपा-सना करते हैं। तो राजा ने कहा कि नहीं आदित्य वैश्वानर आत्मा का नेत्र है। उसकी अन्वर्थ संज्ञा विश्वरूप है। आदित्य को विश्वरूप इसलिए राजा ने वतलाया कि आदित्य ही जगत् के सम्पूर्ण रूपों का प्रकाशन करता है। श्रुतप्रकाशिकाकार लिखते हैं—'प्रकाशकस्यादित्यस्य विश्वं रूपं प्रकाश्यम्, तस्मा-दादित्यो विश्वरूपः।' महर्षि पुलुष के पुत्र पौलुषि ने वायु को वैश्वानरात्मा बतलाया तो राजा ने उसे वैश्वानर आत्मा का प्राण बतलाते हुए उसकी अन्वर्थ संज्ञा पृथग्वर्त्मा बतलाया। वायु को पृथग्वर्त्मा कहने का अभिप्राय है कि स्वभावतः उसकी विविध गतियां है। महर्षि बुडिल द्वारा आकाश को वैश्वानर आत्मा बतलाये जाने पर राजा ने कहा—नहीं वह तो वैश्वानरात्मा का मध्यकाय है। और उसकी अन्वर्थ संज्ञा बहुल है। क्योंकि आकाश भूतान्तरों की अपेक्षा विपुल है। आश्वतराश्वि के द्वारा

जल को वैश्वानर आत्मा बतलाये जाने पर राजा ने कहा वह वैश्वानर परमात्मा की वस्ति है। मूत्र स्थान को वस्ति कहते हैं। उनकी अन्वर्थ संज्ञा रयि है रय वेग को कहते हैं जल वेग सम्पन्न है। रय का ही छान्दस् रूप रयि है। अथवा रै शब्द वाच्य सम्पत्ति साधन होने से जल को रयि कहा गया है। उद्दालक द्वारा पृथिवी को वैश्वानर आत्मा बतलाये जाने पर राजा ने उसे परमात्मा का पैर बतलाकर उसकी अन्वर्थ संज्ञा प्रतिष्ठा बतलायी क्योंकि वह सभी प्राणियों का आधार है। श्रुतिस्थ सन्देह पद का अर्थ कोई नाभि न लगा ले इसलिए श्री भाष्यकार ने उसको स्पष्ट करते हुए कहा कि मध्यकाय को ही सन्देह कहते है। उपर्युक्त आदित्यादि को मूर्धादित्वेन उपदेश करने का अभिप्राय है कि द्युलोक आदि में परमात्मा के मूर्धात्व आदि की भावना करनी चाहिए।

पुनरप्यनिर्णयमेवाशङ्क्य परिहरति—

५६ शब्दादिभ्योऽन्तःप्रतिष्ठानाच्च नेति चेन्न तथा दृष्ट्युपदेशादसंभवात्पुरुषमपि चैनमधीयते। १। २। २७॥

मूल०:—यदुक्तं वैश्वानरः परमात्मेति निश्चियत इति, तन्न, शब्दादिभ्योऽन्तःप्रतिष्ठानाच्च जाठरस्याप्यग्नेरिह प्रतीयमानत्वात्। शब्दास्तावद्वाजिनां वैश्वानरविद्याप्रकरणे ❀स योऽग्निर्वैश्वानरः इति वैश्वानरसमानाधिकरणतयाऽग्निरिति श्रूयते, अस्मिन्प्रकरणे च ❀हृदयं गार्हपत्यो मनोऽन्वाहा-

र्पचन आरुामाहवनीयः इति वैश्वानरस्य हृदयादिस्थ-स्याग्नित्रयकल्पनं क्रियते । ❀तद्यद्भक्तं प्रथममागच्छेत्त-द्धोमीयं स यां प्रथमामाहुतिं जुहुयात्प्राणाय स्वाहा इत्यादिना प्राणाहुत्याधारत्वं च वैश्वानरस्यावगम्यते । तथा वैश्वानरस्याग्निपुरुषेऽन्तःप्रतिष्ठानं वाजसनेयिनस्समा-मनन्ति ❀स यो हैतमेवमग्निं वैश्वानरं पुरुषविधं पुरुषेऽन्तः प्रतिष्ठितं वेदेति । अतोऽग्निशब्दसामानाधिकरण्यात् अग्नि-त्रेतापरिकल्पनात्प्राणाहुत्याधारभावादन्तःप्रतिष्ठानाच्च वैश्वा-नरस्य जाठरत्वमपि प्रतीयत इति नैकान्ततः परमात्मत्व-मिति चेत् ।

अनु०—फिर भी निर्णय न हो सकने की आशंका करके उसका परिहार करते हुए सूत्रकार कहते हैं— शब्दादिभ्योन्तः प्रतिष्ठानाच्चनेति चेन्न तथा दृष्ट्युपदेशात्, असंभवात्, पुरुषम-पिचैनमधीयते ।। १ । २ । २७ ।।

अर्थात् यदि पूर्वपक्षी यह शंका करें कि वैश्वानर विद्या का वैश्वानर शब्द अग्नि शब्द के समानाधिकरण्य रूप से अग्नि रहस्य (१० । ५ । ६ । ११) श्रुति में पढ़ा गया है । सूत्र का आदि पद बतलाता है कि चूँकि (छा० उ०५ । १८ । २) श्रुति में वैश्वानर की हृदयादि स्थान त्रय की अग्नि के रूप में कल्पना की गयी है तथा (छा० ५ । १६ । १) श्रुति में

वैश्वानर को प्राणाहुतियों का आधार बतलाया गया है अतएव वैश्वानर शब्द केवल परमात्मा का वाचक नहीं हो सकता है। तथा अन्तः प्रतिष्ठानाच्च = अर्थात् अग्नि रहस्य की श्रुति में वैश्वानर को जाठराग्नि के रूप में बतलाये जाने के कारण भी वैश्वानर शब्द केवल परमात्मा का ही वाचक नहीं हो सकता है। तो पूर्वपक्षी का यह कथन उचित नहीं है क्योंकि तथा दृष्टयुपदेशात् जाठराग्नि विशिष्ट वैश्वानर परमात्मा का इस प्रकरण में उपदेश दिया गया है। किञ्च असम्भवात् "चूँकि त्रैलोक्य शरीरक जाठराग्नि नहीं हो सकती अतएव वैश्वानर शब्द वाच्य परमात्मा ही है। तथा पुरुषमपि चैनमधीयते = अर्थात् वाजसनेयी शाखावाले वैश्वानर को पुरुषरूप से भी पढ़ते हैं। और केवल जठराग्नि का पुरुष होना संभव नहीं हैं। किञ्च स्वाभाविक रूप से पुरुष तो परमात्मा ही है। यह सूत्र का अर्थ हुआ।

पहले के सूत्र में यह जो बतलाया गया है कि वैश्वानर शब्द वाच्य परमात्मा ही निश्चित होते हैं, वह कथन उचित नहीं है। क्योंकि शब्दादि के द्वारा तथा अन्तः प्रतिष्ठान के कारण जाठराग्नि की भी यहाँ वैश्वानर रूप से प्रतीति होती है। अतएव यहाँ वैश्वानर शब्द वाच्य केवल परमात्मा ही नहीं हो सकते हैं। वाजसनेयी शाखाध्यायियों को वैश्वानर विद्या के प्रकरण में अग्नि के वैश्वानर रूप से प्रतीति में निम्न अग्नि रहस्य की (१० । ५ । ६) वह प्रसिद्ध अग्नि ही वैश्वानर है।'

वह श्रुति रूप शब्द प्रमाण है। क्योंकि उक्त श्रुति में वैश्वानर के ही अधिकरण में अग्नि पढ़ा गया है। और इसी प्रकरण में (छा० ५। १८। २) उपासक का हृदय ही गार्हपत्य अग्नि है, उसका मुख अन्वाहार्य अग्नि है और उसका मुख आहवनीय अग्नि है।' इस श्रुति में वैश्वानर के हृदय आदि में रहने वाले अग्नि त्रय की कल्पना की गयी है (छा० ५। । १९ १) वैश्वानर विद्या के उपासक के सामने जो सर्व प्रथम भोजन उपस्थित होता है, वह होम करने योग्य होता है। अतएव वह उपासक जो पहली आहुति का हवन करे उसे 'प्राणाय स्वाहा' यह कह कर हवन करें।' इत्यादि श्रुति के द्वारा वैश्वानर की प्राणाहुतियों के आधार रूप से प्रतीति होती है। किन्तु वाजसनेयी शाखा वाले वैश्वानर की पुरुष के भीतर स्थिति का समाम्नान करते हैं। वह श्रुति है—"निश्चय ही उपासक इस पुरुष के भीतर रहने वाली वैश्वानर अग्नि की पुरुष रूप से उपासना करता है।' अतएव अग्नि शब्द के समानाधिकरण्य के कारण तथा अग्नि त्रय की परिकल्पना के कारण एवं उपासक के हृदय में स्थिति पायी जाने के कारण वैश्वानर की जाठराग्नि रूप से भी प्रतीति होती है। अतएव वैश्वानर केवल परमात्मा ही नहीं हो सकता है। यदि इस प्रकार कोई शंका करे तो।

टिप्पणी:—पहले के सूत्र में पूर्व पक्षी ने यह शंका की थी कि वैश्वानर शब्द का चूँकि चार अर्थों में प्रयोग देखा जाता

है अतएव कैसे कहा जा सकता है कि छान्दोग्योपनिषद् के वैश्वानर विद्या में पढ़ा गया वैश्वानर शब्द परमात्मा का ही वाचक है। प्रकृत सूत्र में पूर्व पक्षी का यह अभिप्राय है कि वैश्वानर के ऐसे विशेषण ब्रह्म आदि हैं, जिनके कारण यह नहीं निर्णय हो सकता है कि वैश्वानर शब्द केवल परमात्मा को ही बतलाता है अतएव इन दोनों सूत्रों की आशंका के तात्पर्य में वैभिन्न्य है।

मृ०ः—तन्न तथा दृष्ट्युपदेशात्—पूर्वोक्तस्य त्रैलोक्यशरीरस्य परस्य ब्रह्मणो वैश्वानरस्य जठराग्निशरीरतया तद्विशिष्टस्योपासनोपदेशात्। अग्निशब्दादिभिर्हि न केवलो जाठरः प्रतिपाद्यते, अपितु जाठराग्निविशिष्टः परमात्मा। कथमिदमवगम्यत इति चेत्, असंभवात्—जाठरस्य केवलस्य त्रैलोक्यशरीत्वासंभवात्। त्रैलोक्यशरीरतया प्रतिपन्नवैश्वानरसमानाधिकरणो जाठरविषयतया प्रतीयमानोऽग्निशब्दो जाठरशरीरतया तद्विशिष्टं परमात्मानमेवाभिदधातीत्यर्थः। यथोक्तं भगवता—*अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणिनां देहमाश्रितः। प्राणापानसमायुक्तः पचाम्यन्नं चतुर्विधम्॥ इति। जाठरानलशरीरो भूत्वेत्यर्थः। अतस्तद्विशिष्टस्योपासनमत्रोपदिश्यते। किंच पुरुषमपि चैनमधीयते वाजसनेयिनः *स एषोऽग्निर्वैश्वानरो यत्पुरुषः इति।

न हि जाठरस्य केवलस्य पुरुषत्वम् । परमात्मन एव हि निरु ाधिकं पु ष वम् । यथा ॐसहस्रशीर्षा पुरुषः ॐपुरुष एवेदं सर्वम्, इत्यादौ ॥ २७ ॥

अनु०—पूवपक्षी की उपयुक्त प्रकार की आशंका ठीक नहीं है । क्योंकि—'तथा दृष्ट्युपदेशात्—अर्थात्—पूर्वोक्त त्रैलोक्य शरीरक, परम ब्रह्म वैश्वानर का जाठराग्नि शरीर है अतएव जाठराग्नि विशिष्ट रूप से उपासना करने का उपदेश देने में श्रुति का तात्पर्य है । किञ्च अग्नि शब्द आदि के द्वारा केवल जाठराग्नि का ही प्रतिपादन---नहीं'- किया गया है । अपितु उसके द्वारा जाठराग्नि शरीरक परमात्मा का प्रतिपादन किया गया है । यदि इस पर कोई यह पूछे कि आप को इस बात का पता कैसे चला तो—असम्भवात् अर्थात् क्योंकि केवल जाठराग्नि त्रैलोक्य शरीरक नहीं हो सकतो है । तात्पर्य है कि-त्रैलोक्य शरीरक रूप से ज्ञात जो वैश्वानर उसी के अधिकरण में पढ़ा गया जाठराग्नि विषयक जो प्रसिद्ध शब्द उसके द्वारा प्रतीत होने वाला जो अग्नि शब्द है वह जाठराग्नि विशिष्ट परमात्मा को ही बतलाता है, क्योंकि शरीर के वाचक शब्द के ही द्वारा शरीरी का अभिधान होता है । और वैश्वानर जाठराग्नि शरीरक है । जैसा कि गीता (१५ । १४) में भगवान स्वयं कहते हैं—मैं ही प्राण एवं अपान से युक्त सभी प्राणियों के भीतर जाठराग्नि रूप से उनके द्वारा खाये गये चार प्रकार के (भक्ष्य, भोज्य, लेह्य, चोष्य) अन्नों को

शब्द और ब्रह्म शब्द से अभिहित किया गया। किन्तु इन शब्दों का असंकुचित प्रयोग परमात्मा के ही लिए होता है। किञ्च त्रैलोक्य शरीरत्व देवता तथा महाभूत तृतीय का सोपाधिक है। परमात्मा को ही स्वतः त्रैलोक्य शरीरक और शास्त्र बतलाते है अतएव भी वैश्वानर शब्द वाच्य परमात्मा ही है। किञ्च् सर्वं पापप्रदाहकत्व रूपकार्य परमात्मा का ही हो सकता है। अतएव भी वैश्वानर शब्द वाच्य परमात्मा ही है।

६१ साक्षादप्यविरोधं जैमिनिः । १ । २ । २९ ॥

मूल०:—वैश्वानरसमानाधिकरणस्याग्निशब्दस्य जाठराग्निशरीरतया तद्विशिष्टस्य परमात्मनो वाचकत्वम्, तथैव परमात्मान उपास्यत्वं चोक्तम्। जैमिनिस्त्वाचार्यो वैश्वानरशब्दवदग्निशब्दस्यापि परमात्मन एव साक्षात् अव्यवधानेन वाचकत्वे न कश्चिद्विरोध इति मन्यते। एतदुक्त भवति—यथा वैश्वानरशब्दस्साधारणोऽपि परमात्मासाधारणधर्मविशेषतो विश्वेषां नराणां नेतृत्वादिना गुणेन परमात्मानमेवाभिदधातीत निश्चीयते, एवमग्निशब्दोऽप्यग्रनयनादिना येनैव गुणेन योगाज्ज्वलने वर्तते; तस्यैव गुणस्य निरुपाधिकस्य काष्ठांगतस्य परमात्मनि संभवादस्मिन्प्रकरणे परमात्मासाधारणधर्मविशेषितः परमात्मानमेवाभिधत्त इति ॥ २९ ॥

अनु०—आचार्य जैमिनि तो मानते हैं कि जिस तरह वैश्वानर शब्द साक्षात् परमात्मा का वाचक है इसी तरह अग्नि शब्द भी साक्षात् परमात्मा का वाचक है। अतएव कोई विरोध नहीं है। यह सूत्रार्थ हुआ।

(पूर्वोक्त १। २। २७ सूत्र के 'तथा दृष्ट्युपदेशात्' पद की व्याख्या में बतलाया गया है कि)—वैश्वानर के ही अधिकरण में पढ़ा गया अग्निशब्द अग्निशरीरक जाठराग्नि का वाचक है। तथा परमात्मा का शरीर जाठराग्नि है अतएव जाठराग्नि विशिष्ट परमात्मा का ही वाचक यह अग्नि शब्द है। अतएव जाठराग्नि विशिष्ट परमात्मा की उपास्यता (उक्त १। २। २७ सूत्र के तथा दृष्ट्युपदेशात् पद के द्वारा) बतलायी गयी है आचार्य जैमिनि तो मानते हैं कि—वैश्वानर शब्द के ही समान अग्नि शब्द के भी व्यवधान रहित रूप से साक्षात् वाचक होने के कारण कोई विरोध नहीं है। कहने का अभिप्राय है कि—जैसे अनेकार्थक भी वैश्वानर शब्द परमात्मा के असाधारण धर्मों से विशेषित होकर सम्पूर्ण नित्य जीवों के प्राप्यत्व आदि गुणों से युक्त परमात्मा को ही बतलाता है—यह निश्चय होता है। उसी तरह अग्नि शब्द भी जिन अग्रनयन (आगे ले जाना) प्रभृति गुणों के कारण अग्नि के अर्थ में प्रयुक्त होता है, उन गुणों के स्वाभाविक एवं सर्वोत्कृष्ट रूप से परमात्मा में ही सम्भव होने के कारण तथा इस प्रकरण में परमात्मा के असाधारण धर्मों से विशेषित होने के कारण अग्नि शब्द परमात्मा को ही अभिहित करता है।

टिप्पणी—वैश्वानरः साधारण शब्द विशेषात—इस सूत्र के पूर्व पक्ष में श्रुतियों को उद्धृत करके यह सिद्ध किया गया है कि वैश्वानर शब्द अर्थ चतुष्टय में प्रयुक्त होता है। इसी तरह अग्नि शब्द भी अनेकार्थक है वह भी चार अर्थों में प्रयुक्त होता है—'विश्वस्मा अग्नि भुवनाय' इस श्रुति में अग्निशब्द महाभूत तृतीय का वाचक है। एषोऽग्निर्वैश्वानरो येनेदमन्नं' पच्यते इस श्रुति में अग्नि शब्द जाठराग्नि के अर्थ में आया है। 'त्वमग्ने यज्ञानां होता' इस श्रुति का अग्नि शब्द देवता विशेष का वाचक है। 'हृदयेग्नौ वैश्वानरे प्रास्यत्' इस श्रुति का अग्नि शब्द परमात्मा को बतलाता है। इस तरह वैश्वानर शब्द के ही समान अग्नि शब्द भी अर्थ चतुष्टय में प्रयुक्त होता है। जिस तरह वैश्वानर शब्द अपनी यौगिक शक्ति से परमात्मा को बतलाता है उसी तरह अग्नि शब्द भी। वैश्वानर शब्द की व्याख्या करते हुए निघण्टुकार लिखते हैं—'वैश्वानरः कस्मात् ? विश्वान्नरान् नयति, विश्व एव नरा नयन्तीति वा। विश्वानर एवं वैश्वानरः। राक्षसो वायस इतिवत्। रक्ष एव राक्षसः, वय एव वायसः" इति। अर्थात वैश्वानरः शब्द का प्रवृति निमित्त क्या है ? इस शंका का समाधान करते हुये कहते हैं कि—चूँकि वह सम्पूर्ण नित्य पदार्थों का नेता है। अथवा सम्पूर्ण नित्य पदार्थ इसको वहन करते हैं इसलिये वह विश्वानर है। विश्वानर शब्द से ही स्वार्थ में प्रत्यय होकर वैश्वानर बनता है। जिस तरह राक्षस शब्द से अथवा वयस् शब्द से स्वार्थ में प्रत्यय होकर

राक्षस एवं वायस् बनते हैं उसी तरह से वैश्वानर शब्द बनता है। विश्वानर में 'नरे संज्ञायाम्' इस सूत्र से अ का दीर्घ होता है। इसी तरह अग्नि शब्द की भी व्युत्पत्ति निम्नप्रकार से टीका ग्रन्थ में दिखायी गयी है। 'अग्निः कस्मात् ? अग्रणी-र्भवति, अग्रं नीयते, अग्रं नयति, संनमनोक्तौ प्रसन्नो भवति।" अर्थात् अग्नि को अग्नि क्यों कहा जाता है ? तो इस शंका का समाधान है कि—क्योंकि वह अग्रणी होता है, आगे वहन किया जाता है; अपने उपासकों को आगे ले जाता है, तथा नम्र बनाता है, तथा नमस्कार करने पर वह प्रसन्न होता है। शांकर भाष्य में वैश्वानर शब्द की व्युत्पत्ति—'विश्वेषां वा अयं नरः इति विश्वानरः, विश्वानर एव वैश्वानरः, बतलायी गयी है कल्पतरुकार नर शब्द का अर्थ नेता मानते हैं। जिस तरह नानार्थक भी वैश्वानर शब्द अपनी यौगिक शक्ति के द्वारा परमात्मा को इसलिये बतलाता है कि वह परमात्मा के असाधा-रण धर्मों से विशेषित होता है उसी तरह अनेकार्थक अग्निशब्द भी अपनी यौगिक शक्ति के द्वारा परमात्मा को ही बतलाता है। अतएव वैश्वानर शब्द का अग्नि शब्द के साथ समाना-धिकरण्य होने पर भी कोई विरोध नहीं है। यह उक्त सूत्र का अभिप्राय है।

*यस्त्वेतमेवं प्रादेशमात्रमभिविमानमित्यपरिच्छिन्नस्य परस्य ब्रह्मणो द्युप्रभृतिपृथिव्यन्तप्रदेश संबन्धिन्या मात्रया परिच्छिन्नत्वं कथमुपपद्यते ? तत्राह—

६२ अभिव्यक्तेरित्याश्मरथ्यः । १ । २ । ३० ॥

मूल०:—उपासकाभिव्यक्त्यर्थं प्रादेशमात्रत्वं परमात्मन इत्याश्मरथ्य आचार्यो मन्यते । द्यौर्मूर्धा आदित्यश्चक्षुः, वायुः प्राणः, आकाशो मध्यकायः, आपो बस्तिः, पृथिवी पादौ इति द्युप्रभृतिप्रदेश संबन्धिन्या मात्रया परिच्छिन्नत्वम् कृत्स्नमभिव्याप्तवतो विगतमानस्य ह्यभिव्यक्तेरेव हेतोर्भवति ॥ ३० ॥

अनु०—यदि यहां पर कोई यह शंका करे कि—यस्त्वे-तमेवं प्रादेशमात्रमभिविमानम' अर्थात जो इस सर्वव्यापक सीमातीत परमात्मा को उपर्युक्त प्रकार से द्युप्रभृतिप्रदेशों से परिच्छन्न रूप से जानता है–' इस श्रुति में कहे गये सीमा-तीत परब्रह्म की द्युप्रभृति पृथिवी पर्यन्त प्रदेश की सीमा से सीमितता कैसे संभव है ? तो इसका समाधान करते हुए सूत्र-कार कहते हैं—अभिव्यक्तेरित्याश्मरथ्यः । १ । २ । ३० ॥

अर्थात् बुद्धि सौकर्य के लिये ही वैश्वानर परमात्मा का सीमितत्वोपदेश किया गया है यह अश्मरथ्य महर्षि का कहना है । यह सूत्रार्थ हुआ ।

उपासक की अभिव्यक्ति के लिये ही परमात्मा का द्युलोक से लेकर पृथिवी लोक पर्यंत के प्रदेश से सीमितता बतलायी गयी है, यह आश्मरथ्य आचार्य मानते है । सर्वव्यापक सीमातीत परमात्मा का द्युलोक शिर, आदित्य नेत्र, वायु प्राण

आकाश मध्यकाल जल वस्ति तथा पृथ्वी पर है इस तरह द्युलोक से लेकर पृथिवी पर्यन्त की प्रदेश सीमा से सीमितता बुद्धि सौकर्य के लिए ही बतलायी गयी है।

मूर्धप्रभृत्यवयवविशेषैः पुरुषविधत्वं परस्य ब्रह्मणः किमर्थ-मिति चेत्, तत्राह--

६३ अनुस्मृतेर्बादरिः । १ । २ । ३१ ॥

तथोपासनार्थमिति बादरिराचार्यो मन्यते । *यस्त्वे-तमेवमभिविमानमात्मानं वैश्वानरमुपास्ते स सर्वेषु लोकेषु सर्वेषु भूतेषु सर्वेष्वात्मस्वन्नमत्ति इति ब्रह्म-प्राप्तये ह्युपासनमुपदिश्यते । एतमेवमिति—उक्तप्रका-रेण पुरुषाकारमित्यर्थः । सर्वेषु लोकेषु सर्वेषु भूतेषु सर्वेष्वात्मसु वर्तमानं यदन्न भोग्य तदत्ति—सर्वत्र वर्त-मानं स्वत एवानवधिकातिशयानन्दं ब्रह्मानुभवति । यत्तु सर्वैः कर्मवश्यैरात्मभिः प्रत्येकमनन्यसाधारणमन्नं भुज्यते, तन्मुमुक्षुभिस्त्याज्यत्वादिह न गृह्यते ॥ ३१ ॥

यदि कहें कि परं ब्रह्म का शिर आदि अवयव विशेषों के द्वारा पुरुषरूपता की कल्पना क्यों की गयी है ? तो इसका उत्तर देते हुए सूत्रकार कहते हैं—अनुस्मृतेर्बादरिः ॥ १ । २ । ३१ ॥

अर्थात् उपासना के लिए पुरुषरूपत्व की कल्पना की गयी है—यह बादरि आचार्य कहते हैं। यह सूत्र का अर्थ

हुआ ।

बादरि आचार्य मानते हैं कि उपासना के लिए पुरुष-विद्यत्व की कल्पना की गयी है । 'यस्त्वेतमेवमत्रि विमानमात्मानं वैश्वानरमुपास्ते स सर्वेषु लोकेषु सर्वेषुभूतेषु सर्वेष्वांतमस्वन्नभत्ति' इस श्रुति में ब्रह्म की प्राप्ति के लिए उपासना का उपदेश किया गया है । इस श्रुति का अभिप्राय है कि-जो उक्त प्रकार से पुरुषाकार सर्वव्यापक सीमातीत परमात्मा वैश्वानर की उपासना करता है वह सभी लोकों, भूतों तथा आत्माओं में विद्यमान जो भोग्य परमात्मा उस सर्वत्र विद्यमान सीमातीत सर्वोत्कृष्ट आनन्द स्वरूप ब्रह्म का अनुभव करता है । जो सभी संसारी जीवों के द्वारा पृथक्-पृथक् अन्न ग्रहण किये जाते है वे यहाँ पर इसलिए अन्न शब्द से ग्राह्य नहीं है कि वे सभी भोग्य पदार्थ मुमुक्षु जीवों के लिए त्याज्य हैं ॥ ३१ ॥

मूलः—यदि परमात्मा वैश्वानरः, कथं तह्य ुरःप्रभृतीनाँ वेद्यादित्वोपदेशः, यावता जाठराग्निपरिग्रह एवैतदुपपद्यत इत्यत्राह—

६४ संपत्तेरिति जैमिनिस्तथा हि दर्शयति । १ । २ । ३२ ।

अस्य परमात्मन एव वैश्वानरस्य द्युप्रभृतिपृथिव्यन्त-शरीरस्य समाराधनभूतायाः उपासकैरहरहः क्रियमा-णायाः प्राणाहुतेरग्निहोत्रत्वसंपादनायायमुरःप्रभृतीनां

वेदित्वाद्युपदेश इति जैमिनिराचार्यो मनन्ते। तथाहि— परमात्मोपासनोचितमेव फलं प्राणाहुत्या अग्निहोत्रसंपत्ति च दर्शयतीयं श्रुतिः *स य इदमविद्वानग्निहोत्रं जुहोति यथाऽङ्गारानपोह्य भस्मनि जुहुयात्तादृक्तत्स्यात् अथ य एत-देवं विद्वानग्निहोत्रं जुहोति तस्य सर्वेषु लोकेषु सर्वेषु भुतेषु सर्वेष्वात्मसु हुतं भवति तद्यथेषीकतूलमग्नौ प्रोतं प्रदूयेतैवं हास्य सर्वे पाप्मानः प्रदूयन्ते इति ॥३२॥

अनु०—यदि परमात्मा ही वैश्वानर है तो फिर उसके हृदय आदि को वेदी आदि रूप से क्यों आदेश दिया गया है ? वैश्वानर को जाठराग्नि रूप से स्वीकार किये बिना उक्त उप-देश के औचित्य की सिद्धि नहीं हो सकती है। तो इस शंका का समाधान करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

अर्थात् उपासकों द्वारा की जाने वाली प्राणाहुतियों के अग्नि होमत्व का ही सम्पादन करने के लिए हृदय आदि में वेदी आदि की कल्पना की गयी है, यह जैमिनी आचार्य का कहना है और ऐसा ही श्रुति भी बतलाती है। यह सूत्र का अर्थ हुआ। इस परमात्मा ही वैश्वानर के द्युलोक से लेकर पृथ्वी लोक पर्यन्त शरीर के समाराधनभूत उपासकों द्वारा प्रतिदिन की जाने वाली प्राणाहुति के अग्नि होत्रत्व का सम्पादन करने के लिए हृदय आदि का वेदी आदि रूप से उपदेश दिया गया है। यह जैमिनि आचार्य मानते हैं। प्राणाहुति के परमात्मा की उपासना

के लिए उचित फल तथा अग्निहोत्र का सम्पादन यह (छा० ५।२४) श्रुति भी बतलाती है। वह जो हृदय आदि को वेदी रूप से जाने बिना प्राणाहुतियों के लिए अग्निहोत्र करता है; इसका वह कर्म उसी तरह से निस्फल है जैसे कोई अङ्गारों को हटाकर राख में हवन करें। और जो इसको उसप्रकार से जानकर अग्निहोत्र की उपासना करता है, वह सभी लोकों, सभी भूतों तथा सभी आत्माओं की उपासना करता है। वह उसी तरह से है जैसे शरपत के भूए को अग्नि मे डाल देने पर वह हमेशा-हमेशा के लिए जल जाता है। उसी प्रकार प्राणा-हुतियों के द्वारा परमात्मा वैश्वानर की उपासना करने वाले के सभी पाप नष्ट हो जाते हैं।

६५ आमनन्ति चैनमस्मिन् । १ । २ । ३२ ॥

मूल—एनं परमपुरुषं द्युमूर्धत्वादिविशिष्टं वैश्वानरम् अस्मिन् उपासकशरीरे प्राणाहुत्याधारत्वाय आमनन्ति च ॐतस्य ह वा एतस्यात्मनो वैश्वानरस्य मूर्धैव सुतेजाः इत्या-दिना । अयमर्थः—ॐयस्त्वेतमेवं प्रादेशमात्रमभिविमा-नमात्मानं वैश्वानरमुपास्ते इति त्रैलोक्यशरीरस्य परमा-त्मनो वैश्वानरस्योपासनं विधाय ॐसर्वेषु लोकेष्वित्या-दिना ब्रह्मप्राप्तिं च फलमुपदिश्य अस्यैवोपासनस्याङ्ग-भूतं प्राणाग्निहोत्रं ॐतस्य ह वा एतस्येत्यादिनोपदि-

शति; यः पूर्वमुपास्यतयोपदिष्टो वैश्वानरः तस्यावयवभू-
तानग्न्यादित्यादीन् सुतेजोविश्वरूपादिनामधेयानुपासक-
शरीरे मूर्धादिपादान्तेषु सपादयति। मूर्धैव सुतेजाः—
उपासकस्य मूर्धैव परमात्ममूर्धभूता द्यौरित्यर्थः। चक्षु-
र्विश्वरूपः—आदित्य इत्यर्थः। प्राणः पृथग्वर्त्मा—
वायुरित्यर्थः। सन्देहो बहुलः-उपासकस्य मध्यकाय एव
परमात्ममध्यकायभूत आकाश इत्यर्थः। वस्तिरेव रयिः-
अस्य वस्तिरेव तदवयवभूता आप इत्यर्थः। पृथिव्येव
पादौअस्य पादावेव तत्पादभूता पृथिवीत्यर्थः। एवमु-
पासकः स्वशरीरे परमात्मानं त्रैलोक्यशरीरं वैश्वानरं
सन्निहितमनुसन्धाय स्वकीयान्युरोलोमहृदयमनआस्यानि
प्राणाहुत्याधारस्य परमात्मनो वैश्वानरस्य वेदिबर्हिर्गार्ह-
पत्यान्वाहार्यपचनाहवनीयानग्निहोत्रोपकरणभूतान्परिकल्प्य
प्राणाहुतेश्चग्निहोत्रत्वं परिकल्प्यैवंविधेन प्राणाग्निहोत्रेण
परमात्मानं वैश्वानरमाराधयेदिति *उर एव वेदिर्लोमानि
बर्हिर्हृदयं गार्हपत्यः इत्यादिनोपदिश्यते। अतः परमा-
त्मा पुरुषोत्तम एवं वैश्वानर इति सिद्धम् ॥२३॥

अनु०—श्रुतियां इस उपासक के शरीर में प्राणाहुतियों
का आधार बनने के लिए परमात्मा का आम्नान करती हैं, यह

सूत्रार्थ है। इस द्युलोक रूपशिर आदि से विशिष्ट वैश्वानर का उपासक के शरीर में प्राणाहुतियों के आधार रूप से सामाम्नान करती हैं। वे श्रुतियां हैं—'निश्चय ही उस परमात्मा वैश्वानर का शिर ही सुतेजा (द्युलोक) है।' इत्यादि। कहने का अभिप्राय है कि—'यस्त्वेतमेवं प्रादेशमात्रमभि विमानमात्मानं वैश्वानरमुपास्ते' अर्थात् जो उपासक उपर्युक्त प्रकारक त्रैलोक्यशरीरक द्युलोकादि की सीमा से परिच्छिन्न सर्वव्यापक सीमातीत वैश्वानर परमात्मा की उपासना करते हैं" इस श्रुति से त्रैलोक्य शरीरक वैश्वानर परमात्मा की उपासना का विधान करके, 'सर्वेषुलोकेषु' इत्यादि श्रुति के द्वारा उस उपासना का फल ब्रह्म की प्राप्ति को बतलाकर इसी उपासना के अंगभूत प्राणाग्निहोत्र का—'तस्य हवा एतस्य' इत्यादि श्रुति के द्वारा उपदेश किया गया है। जिस वैश्वानर का पहले उपास्य रूप से उपदेश किया गया है। उसके अवयवभूत सुतेजा विश्वरूप आदि नाम वाले अग्नि आदित्य आदि की उपासक के शरीर में शिर से लेकर पैर पर्यन्त अंगों में स्थिति का प्रतिपादन करती हुई श्रुति कहती है। मुर्धैव सुतेजाः—उपासक का शिर ही वैश्वानर परमात्मा का शिरभूत द्युलोक है। चक्षुर्विश्वरूपः—उसका नेत्र ही विश्वरूप यानी सम्पूर्ण रूपों को प्रकाशित करने वाला आदित्य है। प्राणः पृथग्वर्त्मा—उपासक के प्राण ही परमात्मा के प्राणभूत अनेक मार्गों में बहने वाली वायु है। सन्देहो बहुलः—उपासक का मध्यकाय कमर ही परमात्मा का मध्यकाय भूत आकाश है। 'वस्तिरेव रयि:"--उपा-

सक की वस्ति (मूत्र स्थान) ही परमात्मा का अवयव भूत जल है । पृथिव्येवपादौ–उपासक के दोनों पैर ही परमात्मा के पैर स्वरूप पृथिवी मामक पांचवां महाभूत है । इसतरह उपासक के शरीर में त्रैलोक्य शरीरक–वैश्वानर परमात्मा की स्थिति का अनुसंधान करके प्राणाहुतियों के आधार भूत परमात्मा वैश्वानर की वेदी, कुश. गार्हपत्यअग्नि, अन्वाहार्यअग्नि तथा आहवनीय अग्नि रूप से अपनी छाती, रोम, हृदय, मन तथा मुख को कल्पित करके तथा प्राणाहुतियों को अग्निहोत्र रूप से परिक–ल्पित करके, प्राणाग्निहोत्र के द्वारा परमात्मा वैश्वानर की आराधना करे । इस बात का उपदेश—'उर एवं वेढ़िर्लोमानि वर्हिः हृदय गार्हपत्य.' अर्थात् उपासक की छाती ही वेदी है, लोम कुश है, और उपासक का हृदय ही गार्हपत्य अग्नि है । इस श्रुति के द्वारा किया गया है अतएव परमात्मा पुरुषोत्तम ही वैश्वानर हैं, यह सिद्ध हुआ ।

इस तरह श्रीमद् भगवद् रामानुजाचार्य-प्रणीत- शरीरक मीमासा के श्रीभाष्य के प्रथम अध्याय द्वितीय पाद शिवप्रसाद द्विवेदी श्रीधराचार्य कृत का हिन्दी अनुवाद समाप्त हुआ ।



❀ श्री ❀

॥ श्रीमते रामानुजाय नमः ॥

॥ श्रीवादिभीकर महागुरवे नमः ॥

हिन्दी श्रीभाष्य

शारीरक मीमांसा के प्रथम अध्याय के तृतीय पाद का आरम्भ

द्युभ्वाद्यधिकरण का प्रारम्भ

६६ द्युभ्वाद्यायतनं स्वशब्दात् । १ । ३ १ ॥

मूल०:—आथर्वणिका अधीयते ❀यस्मिन्द्यौः पृथिवी चान्तरिक्षमोतं मनस्सह प्राणैश्च सर्वैः, तमेवैकं जानथात्मानमन्या वाचा विमुञ्चथ अमृतस्यैष सेतुः इति । तत्र संशयः—किमयं द्युपृथिव्यादीनामायतनत्वेन श्रूयमाणो जीवः; उत परमात्मेति । किं उक्तम् ? जीव इति । कुतः ? ❀अरा इव रथनाभौ संहता यत्र नाड्यस्स एषोऽन्तश्चरते बहुधा जायमानः इति परस्मिन् श्लोके पूर्ववाक्यप्रस्तुतं द्युपृथिव्याद्यायतनं यत्रेति पुनरपि सप्तम्यन्तेन परामृश्य तस्य नाड्याधारत्वमुक्त्वा, पुनरपि ❀स एषोऽन्तश्चरते बहुधा जायमान इति तस्य बहुधा जायमानत्वं चोच्यते, नाडीसंबन्धो देहादिरूपेण बहुधा

जायमानत्वं च जीवस्यैव धर्मः। अस्मिन्नपि श्लोके *ओतं मनस्सह प्राणैश्च सर्वैरिति प्राणपञ्चकस्य मनसश्चाश्रयत्वमुच्यमानं जीवधर्म एव। एवं जीवत्वे निश्चिते सति द्युपृथिव्याद्यायतनत्वादिकं यथा कथंचित्सङ्गमयितव्यमिति॥

अनु०:—अर्थात् ऊपर के द्युलोक से लेकर नीचे के पृथिवीलोक पर्यन्त के आश्रय परमात्मा ही हैं क्योंकि इन लोकों के आश्रय के जो धर्म बतलाये गये हैं वे परमात्मा में ही पाये जाते हैं।

अथर्ववेद का अध्ययन करने वाले मुण्डकोपनिषद् (२।२।५) में पढ़ते हैं— 'जिस अक्षर में द्युलोक पृथिवी-लोक मन प्राण आदि समवेत हैं, केवल उसी आत्मा को ही जानना चाहिए, अनात्मविषयिणी वाणी को छोड़ दो। यह अमृतत्व का सेतु है। इस श्रुति के अर्थ के विषय में शंका होती है कि क्या इन द्युलोक पृथिवीलोक आदि के आश्रय रूप से सुना जाने वाला कोई जीव है अथवा परमात्मा है? क्या मानना ठीक है? पूर्वपक्षी का कहना है कि उसे जीव ही मानना चाहिए क्योंकि इसके आगे की श्रुति (मु० २।२।६) रथ के चक्के में लगे हुए अर के समान नाड़ियां समवेत हैं, वही यह उसके भीतर अनेक प्रकार से उत्पन्न होने वाला उसके भीतर संचरण करता है।' में पूर्ववाक्य में वर्णित उसी द्युलोक

पृथिवी लोक के आश्रय को–पुनः 'यत्र' इस सप्तम्यन्तपद के द्वारा परामर्श करके, उसी को नाड़ियों का आधार बतलाया गया है। तथा वही अनेक रूपों को धारण करता हुआ शरीर के भीतर संचरण करता है, इस श्रुत्यंश के द्वारा उसकी अनेक रूप से जायमानता को बतलाया गया है। जीव का नाड़ी से संबन्ध होता है तथा देव आदि अनेक रूपों को वही धारण करता है। इस (मा० २। २। ५) श्रुति में भी "सभी प्राणों के साथ मन जिसमें समवेत है।" इस अंश के द्वारा उक्त प्राणपञ्चक तथा मन का आश्रयत्व जीव का ही धर्म है। इस तरह उक्त आश्रय के जीवत्व का निश्चय हो जाने पर उसके द्युलोक पृथिवी-लोक आदि के आश्रयत्व का भी किसी तरह समन्वय करना चाहिए।

टिप्पणी:—पीछे के द्वितीयपाद में अस्पष्ट जीवलिङ्गक वाक्यों की व्याख्या परमात्म परक की जा चुकी है। प्रस्तुत पाद में स्पष्ट जीवलिङ्गक वाक्यों का विचार किया जा रहा है। इस तरह द्वितीय पाद से इस तृतीय पाद की संगति बन जाती है। द्वितीय अध्याय के अन्तिम वैश्वानराधिकरण में बत-लाया गया है। कि द्युलोक पृथिवी लोकका आश्रय भूत परमात्मा ही इस अधिकरण में विचार का विषय है। यहां यह शंका उठायी गयी है कि द्युलोक पृथिवी लोक आदि का आश्रयभूत परमात्मा है अथवा उससे भिन्न जीव प्रतीत होता है? इसी शंका का निराकरण करने के लिए इस अधिकरण का प्रारम्भ होता है।

इस पाद का प्रारम्भ "द्यु भ्वाद्यायतनं स्वशब्दात" इस सूत्र से होना है। यहां पर यह शंका होती है कि सूत्र के अक्षरों को 'द्वाद्यायतनं स्वशब्दात्' इस तरह से होना चाहिए। क्योंकि आदि पद से ही मन प्राण आदि के समान भूलोक का भी अर्थ ग्रहण हो जाता है किन्तु ऐसा सूत्र के अक्षरों के नहीं होने का अभिप्राय है कि द्यु पद ऊपर के लोकों का उपलक्षक है तथा भूलोक नीचे के लोकों का उपलक्षक है। दोनों प्रकार के लोकों को उपलक्षित करने के लिये द्यु भू इन दोनों पदों का प्रयोग सूत्र में किया गया है।

मूल०—एवं प्राप्ते प्रचक्ष्महे-द्यु भ्वाद्यायतनं स्वशब्दात्। द्युपृथिव्यादीनामायतनं परंब्रह्म। कुतः? स्वशब्दात् परब्रह्मासाधारण शब्दात्। ॐअमृतस्यैष सेतुरिति परस्य (ब्रह्मणोऽसाधारणशब्दः। ॐतमेवं विद्वानमृत इह भवति, नान्यः पन्था अयनाय विद्यते इति सर्वत्रोपनिषत्सु स एवामृतत्वप्राप्तिहेतुश्श्रूयते। सिनोतेश्च बन्धनार्थत्वात् सेतुः—अमृतस्य प्रापक इत्यर्थः। सेतुरिव वा सेतुः—नद्यादिषु सेतुर्हि कूलस्य प्रतिलम्भकः—संसारार्णवपारभूतस्यामृतस्यैष प्रतिलम्भक इत्यर्थः आत्मशब्दश्च निरुपाधिकः परस्मिन्ब्रह्मणि मुख्यवृत्तः, आप्नोतीति ह्यात्मा, स्वेतरसमस्तस्य नियन्तृत्वेन व्याप्तिस्तस्यैव संभव। अतस्सोऽपि तस्यैव शब्दः।

❀यस्मिन्‌ज्ञस्सर्वविदित्यादयश्चोपरितनाः परस्यैव ब्रह्मणश्शब्दाः। न नाड्याधारत्वं तस्यापि संभवति ❀सन्ततं सिराभिस्तु लम्बत्याकोशसन्निभमित्यारभ्य ❀तस्याशिशखाया मध्ये परमात्मा व्यवस्थितः इति श्रवणात्। ❀बहुधा जायमानः इत्यापि परस्मिन् ब्रह्मणि सङ्गच्छते—❀अजायमानो बहुधा विजायते, तस्य धीराः परिजानन्ति योनिमिति देवादीनां समाश्रयणीयत्वाय तत्तज्जातीयरूपसंस्थानगुणकर्मसमन्वितः स्वकीयं स्वभावमजहदेव स्वेच्छया बहुधा विजायते परः पुरुष इत्यभिधानात्। स्मृतिरपि ❀अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन्। प्रकृतिं स्वमाधिष्ठाय संभवाम्यात्ममायया ॥ इति। मनःप्रभृतिजीवोपकरणाधारत्वं च सर्वाधारस्य परस्यैवोपपद्यते॥ १ ॥

अनु०:—उपर्युक्त प्रकार का पूर्व पक्ष उपस्थित होने पर सूत्र की व्याख्या करते हुए सिद्धान्ती कहते है—"द्युभ्वाद्यायतनं स्वशब्दात्।' अर्थात् द्युलोक तथा पृथिवी आदि का आश्रय परमात्मा ही है, क्योंकि-'स्वशब्दात्' =परब्रह्म के वाचक असाधारण शब्द का प्रयोग होने के कारण। क्योंकि उसी आयतन का वर्णन करते हुए कहा गया है-'अमृतस्यैष सेतुः" यह परंब्रह्म का वाचक असाधारण सेतु शब्द है। 'उस प्रसिद्ध पुरुष सूक्त में वर्णित रूप से परमात्मा को जानने वाला इस लोक में ही मुक्त हो जाता है। मोक्ष प्राप्ति का कोई दूसरा साधन नहीं

है ।' इत्यादि सब जगह उपनिषदों में उसी को मोक्ष प्राप्ति के कारण रूप से सुना जाता है । पिञ् धातु के बन्धनार्थक होने के कारण 'अमृतस्य सेतुः' का अर्थ है अमृत का प्रापक । अथवा सेतु के तरह यह सेतु है । जिस तरह नदी आदि में सेतु प्रतिकूल तट का प्रापक है । इसी तरह 'अमृतस्य सेतु का अर्थ है, संसार सागर के पारभूत मोक्ष को प्राप्त करने वाला यह परमात्मा है । आत्माशब्द का स्वाभाविक रूप से मुख्यावृत्ति के द्वारा परमात्मा के ही अर्थ में प्रयोग होता है । "आप्नोति = व्याप्नोति इति आत्मा" इस व्युत्पत्ति के अनुसार व्यापक को आत्मा कहते हैं । स्वेतर समस्त वस्तुओं का नियामक होने के कारण परमात्मा की ही व्यापकता सर्वत्र सम्भव है । अतएव आत्मा शब्द परमात्मा का ही वाचक है । पहले कहे गये 'जो सबों को समानरूप से तथा विशेषरूप से जानता है ।' इत्यादि वाक्यों में कहे गये सर्ववित् आदि शब्द परमात्मा के ही वाचक हैं । परमात्मा भी नाड़ियों का आधार हृदय द्वारा हो सकता है । क्योंकि (तै० न० १३ अनु०) में– 'संततं सिराभिस्तु लम्बत्याकोशसन्निभम' अर्थात् नाडियों के द्वारा व्याप्त अधंविकसित कमल के तुल्य हृदय से नीचे की ओर लटक रहा है ।' यहां से प्रारम्भ करके–उस शिखा के मध्य में परमात्मा स्थित है ।' यह सुना जाता है । अनेक रूप से उत्पन्न होना भी परमात्मा का ही धर्म संगत होता है । 'नहीं उत्पन्न होता हुआ भी परमात्मा अनेक रूपों को धारण करता है ।

ब्रह्मज्ञानीजन उसके योनि को जानते हैं। (तै० उ० ना०) यह श्रुति बतलाती है कि देवता आदि के द्वारा उपासना करने के लिए विभिन्न जाति के रूप, अवयव, गुण, कम आदि से युक्त होकर परमात्मा अपने स्वभाव (अखिल कल्याण गुणाकरत्व, अखिल हेय प्रत्यनीकत्व) का त्याग किए बिना ही अपनी सत्य-संकल्प रूप इच्छा मात्र से अनेक रूपों को धारण करता है। क्योंकि यह परं पुरुष कहा जाता है। (गीता अ० ४ श्लो० ६) में भगवान स्वयं कहते है—'अजत्व अव्ययत्व रूप स्वरूपतः गुणतः विकार रहित भी होकर सबों का नियामक मैं अपने स्वभाव को त्याग किये बिना ही अपने सत्य संकल्प रूप इच्छा-मात्र से अनेक रामकृष्ण आदि रूपों से उत्पन्न होता हूँ" इस तरह मन आदि सभी जीवों के उपकरणों का भी आधार परमात्मा ही है।

टिप्पणी—'अमृतस्य सेतुः'—इस श्रुति का अमृत पद अमृत्व मोक्ष का वाचक है, यह शंकराचार्य मानते हैं, वैसा मानने में भी कोई दोष नहीं है क्योंकि वैसा मानने में प्राप्य प्रापक में भेद की सूचना मिलती है। किन्तु श्रीभाष्यकार रामानुजाचार्य अमृत पद को नित्य विभूतिपरक अथवा मुक्त जीव के स्वरूपपरक मानते हुये कहते हैं—'संसारार्णव पारभूत-स्यामृतस्य'।

सेतु पदक अर्थ भगवान् रामानुजाचार्य इसप्रकार से कहते हैं-[१] षिञ बन्धनेधातु से सेतु शब्द की सिद्धिमानते हुए आप कहते है-सेतु

का अर्थ है अमृत अर्थात् नित्यविभूति अथवा जीव के मुक्तस्व-रूप को प्राप्त कराने वाला। क्योंकि बन्धन का अर्थ है संबन्ध कराने वाला अथवा प्राप्त कराने वाला। किन्तु यहां पर यह शंका होती है कि—बन्धन गति का निरोध करने वाला होता है। सेतु भी जल की गति का निरोध करता है। किन्तु द्युभू आदि का आश्रयभूत परमात्मा तो अमृत्व का निरोधक नही है। दूसरी बात यह कि योगिक अर्थ उसी पदका लिया जाता है जिसके अवयव स्पष्ट रूप से प्रतीत होते हों। सेतु शब्द का यौगिकार्थ ग्रहण उचित नहीं है। कोई भी गमनार्थक गम् धातु से डोस् प्रत्यय करके बने हुए गोः पद का चलने वाली अर्थ नहीं स्वीकार करता। अपितु उसकी सास्नादिमती व्यक्ति में रूढि ही स्वीकार की जाती है। अतएव सेतु शब्द का यौगिकार्थ स्वीकार करना उचित नहीं है। इसी अरुचि को हृदय में रख-कर श्रीभाष्यकार स्वामीजी रूढ्यर्थ का प्रतिपादन करते हैं—सेतु रिव वासेतुः। अर्थात् जिस तरह सेतु दूसरे नदी आदि के दूसरे तट का प्रापक होता है, उसी प्रकार यह आश्रयभूत परमात्मा नित्य।विभूति अथवा संसारार्णव के पारभूत जीव के मुक्तस्वरूप का प्रापक होता है।

इतश्च परमपुरुषः—

६७ मुक्तोपसृप्यव्यपदेशाच्च। १। ३। २॥

मूल—अयं द्युपृथिव्याद्यायतनभूतः पुरुषः संसारबन्धान्मुक्त

रपि प्राप्यतया व्यपदिश्यते *यदा पश्यः पश्यते रुक्मवर्णं कर्तारमीशं पुरुषं ब्रह्मयोनिम् । तदा विद्वान्पुण्यपापे विधूय निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति ॥ *यथा नद्यस्स्यन्दमानास्समुद्रे अस्तं गच्छन्ति नामरूपे विहाय । तथा विद्वान्नामरूपाद्विमुक्तः परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यम् ॥ इति । संसारबन्धनाद्विमुक्ता एव हि विधूतपुण्यपापा निरञ्जना नामरूपाभ्यां विनिर्मुक्ताश्च । पुण्यपापनिबन्धनाचित्संसर्गप्रयुक्तनामरूपभाक्त्वमेव हि संसारः । अतो विधूतपुण्यपापैर्निरञ्जनैः प्रकृतिसंसर्गरहितैः परेण ब्रह्मणा परमं साम्यमापन्नैः प्राप्यतया निर्दिष्टो द्युपृथिव्याद्यायतनभूतः पुरुषः परं ब्रह्मैव ॥ २ ॥

अनु०—निम्न सूत्र के द्वारा भी द्युभू आदि का आश्रय परमात्मा ही सिद्ध होता है।—मुक्तोपसृप्यव्यपदेशाच्च ॥१'३।२॥ क्योंकि द्युलोक भूलोक आदि के आश्रयभूत परमात्मा को ही मुक्तात्माओं के प्राप्यरूप से श्रुति बतलाती है । यह सूत्रार्थ है । यह द्युलोक भूलोक आदि के आश्रयभूत पुरुष परमात्मा ही संसार के बन्धन से मुक्त जीवो के द्वारा प्राप्य रूप से श्रुतियो के द्वारा बतलाये जाते है । वे श्रुतिया निम्न है । (मु० ३।१।३)

श्रुति बतलातीहै कि–यदा=जिस समय, पश्यः ब्रह्मदर्शी पुरुष- रुक्मवर्णम्='आदित्यवर्णंतमसः परस्तात्' इत्यादि श्रुतियों में वर्णित देदीप्यमान भङ्ग का विग्रह से युक्त, ईशम्=सम्पूर्ण जगत् के नियामक, कर्तारम्=सम्पूर्ण जगत् के तथा, ब्रह्मयोनिम्=प्रकृति के भी उपादानकारण भूत, पुरुषम्=परमात्मा को, पश्यति=देखलेता है, तदा=उस समय–विद्वान्=वह ब्रह्मज्ञानी अपने=पुण्यपापं निरस्य=पुण्यपाप रूपी सभी कर्मों का त्यागकर निरञ्जनः= प्रकृति के अवरण से रहित होकर, तथा आविर्भूत–गुणाष्टक होकर परमात्मा के, परमं साम्यम्=अत्यन्त समता को, उपैति=प्राप्त कर लेता है।

दूसरी मु०३।२'८) श्रुति बतलाती है कि—जिस तरह बहती हुई नदियां अपने भेदक नाम और रूप को त्यागकर समुद्र में मिलजाती हैं, उसी प्रकार ब्रह्मज्ञानी भेदक अपने नाम और रूप का त्यागकर दिव्य परात्पर पुरुष को प्राप्त कर लेता है। संसार के बन्धन से विमुक्त हो जीव पुण्य और पाप से रहित तथा नाम एवं रूप से रहित होते हैं। पुण्य पाप रूपी कर्मों के ही कारण प्रकृति से सम्बन्ध होने से नाम रूप का पात्र हो जाना ही संसार कहलाता है। अतएव जिनका पुण्य पाप रूपी कर्म नष्ट हो गया है ऐसे निरञ्जन=प्रकृति के संसर्ग से रहित परं ब्रह्म के साथ अत्यन्त समता को प्राप्त जीवों के द्वारा प्राप्य रुप से निर्दिष्ट द्युलोक तथा पृथिवी आदि का आश्रय भूत पुरुष परंब्रह्म ही हैं।

परब्रह्मासाधारणशब्दादिभिः परमेव ब्रह्मेति प्रसाध्य, प्रत्यगात्मासाधारणशब्दाभावाच्चायं पर एवेत्याह—

६८ नानुमानमतच्छब्दात्प्राणभृच्च । १ । ३ । ३ ॥

मूल-यथाऽस्मिन्प्रकरणे प्रतिपादकशब्दाभावात्प्रधानं न प्रतिपाद्यम्, एवं प्राणभृदपीत्यर्थः । अनुमीयत इत्यनुमानं परोक्षं प्रधानमुच्यते, अनुमानप्रमितत्वादानुमानमिति वा । अतच्छब्दात् तद्वाचिशब्दाभावादित्यर्थः । *अर्थाभावे यदव्ययमित्यव्ययीभावः ॥३॥

अनु०—पहले और दूसरे सूत्रों में परंब्रह्म के वाचक असाधारण-(सेतु आदि) शब्दों के प्रयोग के द्वारा द्युलोक भूलोक आदि के आश्रय परंब्रह्म ही हैं, यह सिद्ध करके अगले सूत्रों से यह बतलाया जा रहा है कि चुंकि इस प्रकरण में जीव का वाचक कोई असाधारण-शब्द नहीं है, अतएव भी उक्त आश्रय परंब्रह्म ही है । वह सूत्र है—

नानुमानमतच्छदावत् प्राणभृच्च ॥ १ । ३ । ३ ॥ इस सूत्र का अर्थ करते हुए श्रीभाष्यकार स्वामीजी स्वयं कहते हैं—जिस तरह इस प्रकरण में (प्रधान) प्रकृति के प्रतिपादक शब्द के नहीं रहने से इस प्रकरण में आश्रय रूप से प्रतिपाद्य अनुमान=प्रकृति नहीं है । उसी तरह जीव के प्रतिपादक शब्द के अभाव के कारण इस प्रकरण के प्रतिपाद्य कोई प्राणभृच्च= जीव भी नहीं हो सकता है । अनुमीयते=अर्थात

जिसका अनुमान किया जाय इस ('कृत्यल्युटो बहुलम्' इस सूत्र में बहुल ग्रहण सामर्थ्यात् कर्म में ल्युडन्त व्युत्पत्ति के) अनुसार अनुमानपाद परोक्ष पधान (प्रकृति) का वाचक है। अथवा-अनुमान का जो विषय हो उसे आनुमान कहते हैं। यह आनुमान पद की दूसरी व्युत्पत्ति है। (आनुमानपद से 'शेषे' सूत्र द्वारा अण् प्रत्यय करके आदिवृद्धि होने पर आनुमानपद की सिद्धि होती है। अतच्छब्दात् = का अर्थ है जीव अथवा प्रकृति के वाचक शब्द का अभाव होने के कारण। अतच्छब्दात् = पद मे 'अव्ययं विभक्ति समीप इत्यादि सूत्र के द्वारा अर्थाभाव के अर्थ मे अव्ययीभाव समास है।

टिप्पणी—अतच्छब्दात्—पद में बहुव्रीहि समास इसलिए नहीं माना जा सकता है कि—नास्ति तच्छब्दो यस्य इस अर्थ में तच्छब्द रहितः पद होना चाहिए। पुनः अन्यार्थ प्रधान बहुव्रीहि समास के होने से किसी विशेष्यान्तर की भी अपेक्षा होगी और वह इस सूत्र में दिखाई नहीं पड़ता। तत्पुरुष नञ् भी नही माना जा सकता है। क्योंकि—नञ् तत्पुरुष मानने पर नञ् का या तो तत् शब्द से सम्बन्ध होगा अथवा शब्द से। नञ् का तत् से सम्बन्ध मानने पर 'नसः' इस विग्रह के अनुसार असः पद वाच्य कौन होगा? इस प्रकरण के प्रतिपाद्य परमात्मा से भिन्न अथवा प्रकृति ही उसका वाच्यार्थ हो सकते है। अवएव प्रधान पुरुषवाचि शब्दात्' यह सूत्र का

स्वरूप होना चाहिये था । फलतः प्रतिज्ञात अर्थ का विरोध भी होता । यदि 'असः' पदवाच्य प्रधानादि से भिन्न परमात्मा को माने तो सूत्र का रूप 'नानुमानमत एव प्राणभृच्च' यही सूत्र सरल रूप होना चहिए । यदि नञ् का 'तच्छब्द' से समास माने तो फिर उसका अर्थ होगा 'तद्वाचिशब्दव्यतिरिक्त शब्दात्' जिसका पर्यवसान 'स्वशब्दात्' में ही होगा । इन सारी अनुपपत्तियों को हृदय में रख कर भगवान् श्रीभाष्कार कहते है कि 'अतच्छब्दात्' मे अभाव अर्थ मं अव्ययीभाव समास समझना चाहिए । यदि यहां पर कोई यह कहे कि अर्थाभव के अर्थ में अव्ययीभाव समास मानने पर निर्मक्षिकम् के समान सुपका अम् भाव क्यों नहीं हुआ है तो इसका उत्तर यह है कि पञ्चमी विभक्ति को छोड़ कर अव्ययीभाव समास में अम् भाव होता है । यहाँ पञ्चमी विभक्ति होने के कारण अतच्छब्दात यह साधु पद है ।

इस पद का विस्तृत विवेचन तात्पर्य चन्द्रिका में तथा श्रुतप्रकाशिका एवं भावप्रकाशिका में देखा जा सकता है ।

इतश्चायं न प्रत्यगात्मा—

६९ भेदव्यपदेशात् । १ । ३ । ४ ॥

मूलः—*समाने वृक्षे पुरुषो निमग्नोऽनीशया शोचति मुह्यमानः । जुष्टं यदा पश्यत्यन्यमीशमस्य महिमानमिति वीतशोकः ॥ इत्यादिभिर्जीवाद्भिलक्षणत्वेनायं व्यपदिश्यते

अनीशया भोग्यभूतया प्रकृत्या मुह्यमानश्शोचति जीवः। अयं यदा स्वस्मादन्यं सर्वस्येशं प्रीयमाणम्, अस्य ईश्वरस्य महिमानं च निखिलजगन्नियमनरूपं पश्यति, तदा वीतशोको भवति ॥ ४ ॥

अनु॰—इसलिए भी द्यु,भू आदि का आश्रय जीव नहीं हो सकता है कि-भेदव्यपदेशात् ॥ १ । ३ । ४ ॥ अर्थात् मुण्ड. कोपनिषद् की श्रुतियां जीवात्मा और द्यु,भू आदि के आश्रयभूत परमात्मा में भेद का प्रतिपादन करती हैं। यह सूत्र का अर्थ हुआ।

समाने वृक्षे पुरुषो निमग्नोऽनिशया शोचति मुह्यमानः।
जुष्टं यदा पश्यत्यन्यमीशमस्य महिमानमिति वीतशोकः ॥

इत्यादि श्रुतियो के द्वारा जीव से परमात्मा की भिन्नता बतलायी जाती है। इस श्रुति का अर्थ इस प्रकार है–एक ही वृक्ष के समान छेद्यत्वादि गुण सम्पन्न शरीर में अपने धारक पोषक, नियामक परमात्मा के साथ रहता हुआ भी जीव अनीशया=योग्यभूता प्रकृति के द्वारा मुह्यमान:=मोहित होकर, शोचति=दु:खानुभव करता रहता है। जब कि वह अपने से भिन्न सम्पूर्ण जगत के नियामक, अपने धारक नियामक रूप से जान लेने के कारण, प्रियमाण=प्रसन्न होते हुए परमात्मा तथा अस्य=ईश्वर की सम्पूर्ण जगत् नियामकत्व रूप महिमा का साक्षात्कार करता है तब शोकरहित हो जाता है।

७० प्रकरणात् । १ । ३ । ५ ॥

मूल०ः—प्रकरणं चेदं परस्य ब्रह्मण इति ॐअदृश्यत्वादिगुणको धर्मोक्तेः इत्यत्रैव प्रदर्शितम् । नाडीसंबन्धबहुधाजायमानत्वमनःप्राणाधारत्वैश्च प्रकरणविच्छेदशङ्कामात्रमत्र पर्यहार्ष्म ॥ ५ ॥

अनु०—चूँकि माण्डुक्योपनिषत् का यह प्रकरण भी परंब्रह्म का ही है अतएव आयतन परमात्मा ही है ।
किञ्च यह माण्डुक्योपनिषद् का प्रकरण ही परंब्रह्म का है. इस अर्थ को 'अदृश्यत्वादि गुणको धर्मोक्तेः' सूत्र के ही श्रीभाष्य में बतलाया गया है इस प्रकरणमें तो उस द्यु,भूआदि के आश्रयभूत परमात्मा के नाडी संबन्ध, बहुधाजायमानत्व; मनः प्राणाधारत्व आदि संबन्धी शका का अपनोदन किया गया है ।

७१ स्थित्यदनाभ्याञ्च । १ । ३ । ६ ॥

मूल०—ॐद्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते । तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्ति अनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति ॥ इत्येकस्य कर्मफलादनम्, अन्यस्य च कर्मफलमनश्नत एव दीप्यमानतया शरीरान्तस्स्थितिमात्रं प्रतिपाद्यते । तत्र कर्मफलमनश्नन्दीप्यमान एव सर्वज्ञोऽमृतसेतुस्सर्वात्माद्युभ्वाद्यायतनं भवितुमर्हति, न पुनः कर्मफलमदन् शोचन् प्रात्यगात्मा । अतो द्युभ्वाद्यायतनं परमात्मेति सिद्धम् । ६ ।

अनु०—और (मु० ३ । १ । २) श्रुति शरीरान्तः स्थित परमात्मा की केवल स्थिति तथा उसके दीप्य मानता को एवं जीव के कर्मफल भोक्तृत्व के प्रतिपादन द्वारा बतलाती है कि द्यु,भूआदि का आश्रय परमात्मा ही है । यह सूत्र का अर्थ हुआ ।

दो सुन्दर पंखवाले जीवात्मा एवं परमात्मा रूपी साथ-साथ रहने वाले मित्र पक्षो एक ही शरीर रूपी वृक्ष का सेवन करते है, उन दोनों में से एक (जीवात्मा) किए हुए अपने कर्मों के फलों का उपभोग करता है और दूसरा (परमात्मा) केवल स्थित मात्र ही रहकर कर्मफलों का उपभोग किये बिना ही देदीप्यमान रहता है ।(मा० ३ । १ । २) यह श्रुति एक (जीवात्मा) का कर्मफल भोक्तृत्व और दूसरे परमात्मा का जो कर्मफलों को नहीं भोगता उसके देदीप्यमान रूप से शरीर के भीतर केवल स्थिति का प्रतिपादन करता है उन दोनों में कार्यफलों को नहीं भोगने वाला देदीप्यमान रहने वाला ही सर्वज्ञ अमृत का प्रापक," सर्वात्मा और द्युभू आदि का आश्रय हो सकता है और कर्मफलों का भोग करने वाला शोक सम्पन्न प्रत्यगात्मा नहीं । अतएव द्यु,भू आदि का आयतन परमात्मा ही है, यह सिद्ध हुआ ।

टिप्पणी—तत्र कर्मफलमनश्नन्—इत्यादि वाक्य में कर्मफलमनश्नन् पद के द्वारा सूत्रस्थ स्थिति हेतु का अनुवाद किया गया है । शंका होती है कि यह द्वासुपर्णा श्रुति किस प्रकार जीवात्मा एवं परमात्मा परक है ? क्योंकि इस श्रुति की

व्याख्या पैङ्गी ब्राह्मण में अन्तःकरण एवं जीव परक है । इस मंत्र के उत्तरार्द्ध की व्याख्या करते हुए पैङ्गी रहस्य ब्राह्मण में अन्तःकरणके अर्थ में कहा गया है कि–तयोरन्यः पिप्पलंस्वाद्वत्तीति सत्त्वम्' अर्थात् इस वाक्यांश का अन्य पद सत्त्व का वाचक है । "अनश्ननन्योऽभिचाकशीतीतिअनश्ननन्योऽभिपश्यतिज्ञः" अर्थात् कर्मफलों का उपभोक्ता न होकर केवल साक्षी मात्रज्ञ है । 'तावेतौ सत्त्वक्षेत्रज्ञौ ।' ये दोनों सत्त्व और ज्ञ शब्द अन्तःकरण और क्षेत्रज्ञ को बतलाते हैं । सत्त्व एवं क्षेत्रज्ञ शब्द जीव और परमात्मा के वाचक नहीं हो सकते हैं ! क्योंकि सत्त्व शब्द अन्तःकरण के तथा क्षेत्रज्ञ शब्द जीव के अर्थ में प्रसिद्ध है । किञ्च सत्त्व शब्द तथा क्षेत्रज्ञ शब्द को अन्तःकरण तथा जीव परक व्याख्या करती हुई पैङ्गी रहस्य ब्राह्मण की श्रुति भी कहती है "तदेतत् सत्त्वं येन स्वप्नं पश्यति । अथ योऽयं शारीर उपद्रष्टा स क्षेत्रज्ञः तावेतौ सत्त्वक्षेत्रज्ञौ ।" अर्थात्–जीव जिसके माध्यम से स्वप्न देखता है वह अन्तःकरण ही है जो सत्त्व पद वाच्य है । और यह जो शरीरधारी द्रष्टा है, वह जीव ही क्षेत्रज्ञ शब्द वाच्य है । ये दोनों अन्तःकरण और ज्ञ सत्त्व एवं क्षेत्रज्ञ शब्द वाच्य है ।

तो इस प्रकार की शंका उचित नहीं–क्योंकि 'द्वासुपर्णा-मन्त्र जीवात्मा एवं परमात्मा का ही प्रतिपादन करता है । क्योंकि इस मंत्र की आगे आने वाले—'समाने वृक्षे पुरुषो निमग्नः' इत्यादि मन्त्र के साथ एकार्थता है । इस मन्त्र

के पूर्वाद्ध के अन्त में आया है—'समानं वृक्षं परिषस्वाजाते ।' और उस अगले मन्त्र में भी पूर्वाद्ध में आया है–'समाने वृक्षे पुरुषो निमग्नः' इस तरह दोनों मन्त्रों में बतलाया गया है कि एक ही शरीर में आत्मा और परमात्मा दोनों का निवास है। 'समाने वृक्षे इत्यादि' मन्त्र में आया हुआ पुरुष शब्द जीव का ही वाचक है, क्यों कि अन्तःकरण का अभिधान पुरुष शब्द से नहीं किया जा सकता है । किञ्च पुरुष शब्द को अन्तःकरण का वाचक मान लेने पर भी 'शोचति मुह्यमानः' वीतशोकः' आदि पदों के द्वारा अभिहित शोक करना तथा शोक रहित होना जड़ अन्तःकरण का धर्म नहीं हो सकता। अतएव पुरुषपद वाच्य जीव ही है। किञ्च उक्त मन्त्र में ईश शब्द के द्वारा परमात्मा ही कहे गये हैं, उनके ही साक्षात्कार से जीव शोक रहित हो सकता है।

किञ्च केवल आगे आने वाले मन्त्र की एकार्थता के ही कारण 'द्वासुपर्णा मन्त्र' जीवात्मा एव परमात्मा का वाचक नहीं है अपितु स्वादवत्ति पद के द्वारा एक का भोक्तृत्व तथा 'अनश्नन्नन्यः' पद के द्वारा दूसरे परमात्मा के भोक्तृत्व गुण नैरपेक्ष्य की सूचना दी गयी है । किञ्च जिस तरह चक्षुः श्रोत्र आदि द्रष्टा श्रोता आदि नहीं होते उसी तरह अन्तः करण भी भोक्ता नहीं हो सकता है । किञ्च–जीव भी देह ससक्त रहकर भोक्तृत्व निरपेक्ष नहीं हो सकता है । अतएव 'द्वासुपर्णा' श्रुति जीवात्मा एवं परमात्मा की ही प्रतिपादिका है ।

अब प्रश्न यह उठता है कि तो फिर पैङ्गीरहस्य ब्राह्मण

श्रुति का क्या तात्पर्य है ? तो इसका उत्तर है कि–सत्त्वपद बद्ध जीव का वाचक है । क्योंकि द्रव्यासुव्यवसायेषु सत्त्वमस्त्री-तुजन्तुषु" इस नामानुशासन के अनुसार सत्त्व पद जन्तु का वाचक है । 'प्रणीतु चेतनो जन्मी जन्तुजन्यशरीरिणः' इस नाम पाठ के अनुसार जन्तु शब्द जीव का वाचक है । कालिदास भी रघुवंश महाकाव्य के दूसरे सर्ग में सत्त्व पद का जीव के अर्थ में प्रयोग करते हुए लिखते हैं–'वन्यान् विनेश्यन्निव दुष्टसत्त्वान्' यहां पर दुष्ट सत्त्व पद दुष्ट प्राणियों का वाचक है । विष्णु–पुराण में भी कहा गया है––

न तदस्ति पृथिव्यां वा दिवि देवेषु वा पुनः ।
सत्त्व प्रकृतिजेर्मुक्तं यदेभिस्स्यात् त्रिभिर्गुणैः ।

अर्थात् संसार में, द्युलोक में, अथवा देवताओं में भी ऐसा जीवन हीं है जो इन प्रकृति के तीन (सत्त्व रजस् एवं तमस्) गुणों से रहित हो । यहां भी सत्त्व पद जीव का ही वाचक है । किञ्च–सत्त्व शब्द के ही समान क्षेत्रज्ञ शब्द भी परमात्मा का ही निरुपाधिक रूप से वाचक है । सभी क्षेत्रों का निरुपाधिक रूप से ज्ञाता तो परमात्मा ही है । इसीलिए गीता के (१३ । १) में भगवान् स्वयं कहते हैं––"क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि" । अर्थात् सभी क्षेत्रों का ठीक ठीक रूप से जानने के कारण क्षेत्रज्ञ भी मुझे ही जानो । विष्णु सहस्रनाम में भी कहा गया है कि "क्षेत्रज्ञोऽक्षरएव"च अतएव क्षेत्रज्ञ शब्द परमात्मा का

ही वाचक है। मोक्षधर्म में भी कहा गया है—"सर्वावासं वासुदेव क्षेत्रज्ञं विद्धि तत्त्वत:' अर्थात् सबों के एकमात्र आश्रय. सबों के भीतर निवास करने वाले भगवान् वासुदेव को ही वास्तविक रूप से क्षेत्रज्ञ समझो।' यहां भी क्षेत्रज्ञ पद से परमात्मा को ही बतलाया गया है। श्रुतप्रकाशिकाकार स्थित्यदनाभ्याम्' सूत्र की श्रुतप्रकाशिका मे दस मोक्ष धर्म से ऐसे वाक्यों को उद्धृत किये है जिनमें क्षेत्रज्ञ शब्द का प्रयोग परमात्मा के अर्थ में हुआ है। मनुस्मृतिकार कहते हैं कि जो परमात्मा इस आत्मा को कार्यों में प्रवृत्त होने के लिए प्रेरित करता है उसे क्षेत्रज्ञ कहा जाता है और जो कर्मो को करता है वह भूतात्मा कहा जाता है।

> योऽस्यात्मन: कारयिता तं क्षेत्रज्ञं प्रचक्षते।
> य: करोति तु कर्माणि स भूतात्मेति चोच्यते॥

अब प्रश्न यह उठता है कि उक्त श्रुति की पैङ्गीरहस्य ब्राह्मण की व्याख्या का क्या तात्पर्य है ? तो इसका उत्तर है कि 'येन स्वप्नं पश्यति' इस वाक्य के येन पद में करण के अर्थ में तृतीया न मानकर 'इत्थंभूतलक्षणे' सूत्र से इत्थं भाव के अर्थ में तृतीया समझनी चाहिए। अतएव 'येनस्वप्नंपश्यति' का अर्थ हुआ कि जिस जीव से विशिष्ट परमात्मा स्वप्न को देखता है। अतएव जीव के द्वारा परमात्मा के स्वप्न द्रष्टृत्व के प्रतिपादन में उक्त श्रौत व्याख्या का तात्पर्य समझना चाहिए। 'शारीर उपद्रष्ट' में शारीर पद भी परमात्मा का वाचक ही है। 'शरीरम–

स्त्यस्येति शारीरः' इस व्युत्पत्ति के अनुसार 'यस्यात्माशरीरम्' जिस अन्तर्यामी का आत्मा शरीर है, इत्यादि अन्तर्यामी श्रुत्युक्त तथा 'जगत् सर्वं शरीरं ते' अर्थात् आपका सम्पूर्ण जगत् शरीर है, 'तानि सर्वाणि तद्वपुः' वे सब परमात्मा के शरीर है। 'तत्सर्वं वै हरेस्तनुः' वह सम्पूर्ण जडचेतनात्मकजगत परमात्मा का शरीर है, प्रभृति स्मृति वाक्यो के द्वारा प्रतिपादित किया जाता है कि सम्पूर्ण जगत् परमात्मा का शरीर है। अतएव शारीर शब्द परमात्मा के अर्थ में साक्षात् उपपन्न हैं। किञ्च साक्षात उपद्रष्टा भी परमात्मा ही हैं। अतएव उक्त व्याख्या में कोई विरोध नहीं है। इन शारीर और उपद्रष्टा पद के द्वारा परमात्मा को क्षेत्रज्ञत्व के प्रतिपादन में पैङ्गीरहस्य ब्राह्मण का तात्पर्य समझना चाहिए। इस तरह सिद्ध हुआ कि 'द्वा सुपर्णा' इत्यादि के द्वारा जीव एवं परमात्मा प्रतिपादित किये गये हैं।

७२ भूमा संप्रसादादध्युपदेशात् । १ । ३ । ७ ॥

इदमामनन्ति च्छन्दोगाः ॐयत्र नान्यत्पश्यति नान्यच्छृणोति नान्यद्विजानाति स भूमा, अथ यत्रान्यत्पश्यत्यन्यच्छृणोत्यन्यद्विजानाति तदल्पम् इति । अत्रायं भूमशब्दो भावप्रत्ययन्तो व्युत्पाद्यते । तथा हि पृथ्वादिषु वहुशब्दः पठ्यते । ततः ॐपृथ्वादिभ्य इमनिज्वा, इति इमनिच्प्रत्यये कृते ॐवहोर्लोपो भू च बहोः, इति

प्रकृतिप्रत्यययोर्विकारे भूमेति भवति । भूमा-बहुत्वमित्यर्थः । अत्र चायं बहुशब्दो वैपुल्यवाची, न सङ्ख्यावाची, *यत्रान्यन्नुपश्यति...तदल्पमित्यल्पप्रतियोगित्वश्रवणात् । अल्पशब्दनिर्दिष्टधर्मिप्रतियोगिप्रतिपादनपरत्वादेव धर्मिपरश्च निश्चीयते; न धर्ममात्रपरः । तदेवं भूमेति विपुल इत्यर्थः । वैपुल्यविशेषणश्चेहात्मेत्यवगतः *तरति शोकमात्मविदिति प्रक्रम्य भूमविज्ञानमुपदिश्य *आत्मैवेदं सर्वमिति तस्यैवोपसंहारत् ।

अनु०—(छान्दोग्योपनिषद् के सातवें अध्याय में भूमा विद्या में वर्णित) भूम=वैपुल्यगुण विशिष्ट जीवात्मा न होकर परमात्मा ही है क्योंकि उसका छान्दोग्य श्रुति द्वारा सम्प्रसादत्= जीवात्मा से श्रेष्ठ प्राप्य रूप से) उपदेश दिया गया है । यह सूत्र का अर्थ हुआ ।

छान्दोग्योपनिषद् का अध्ययन करने वाले निम्न प्रकार का सामाम्नान करते हैं—"जिसको प्राप्तकर उपासक उससे भिन्न न तो किसी वस्तु को देखता है न तो किसी अन्य वस्तु को सुनता है, न तो तद्व्यतिरिक्त किसी अन्य वस्तु को जानता है वही भूमा है । और जिसको प्राप्त करके भी अन्य वस्तुओं को वह देखता, सुनताऔर जानता है, वह अल्प है ।" यहां पर भूम शब्द भावप्रत्ययान्त व्युत्पन्न होता है उसकी व्युत्पत्ति

इस प्रकार है—बहु शब्द का पाठ पृथ्वादि गरण में आता है। अतएव "पृथ्वादिम्य इमनिज्बा ॥ ५ । ४ । १२ ॥ अर्थात् पृथ्वादि गरण में पठित शब्दों के विकल्प मे इमनिच् प्रत्यय होता है। इस पारिणनीय सूत्र से बहु शब्द से भावार्थक इमानिच् प्रत्यय होता है। इच् का अनुबन्ध लोप होने पर केवल प्रत्यय का इमन् मात्र बच जायेगा। पुनः सूत्र लगेगा—'बहोर्लोपो भू च बहोः' ६ । ४ । ५ । ८ ॥ अर्थात् बहु शब्द के बाद में आने वाले इमन् और इयस् का लोप हो जाता है और बहुका भू आदेश हो जाता है। इस सूत्र से बहु के बाद आने वाले इमन् का लोप प्राप्त हुआ किन्तु 'आदेःपरस्य' सूत्र के सहकार से बहु शब्द के बाद में आने वाले इमन् के आदि वर्ण इकार का लोप हो गया तथा बहु को भू आदेश हो गया। इस तरह भूमन् शब्द बन गया। इसका प्रथमा एक बचन में रूप होगा भूमा। भूमा का अर्थ होगा बहुत्व। यद्यपि बहु शब्द का प्रयोग संख्या तथा वैपुल्य दोनों अर्थों में होता है फिर भी यहां पर भूमा शब्द का प्रयोग बहुत्व (वैपुल्य) का ही वाचक है संख्या का नहीं। क्योंकि यह भूमा शब्द 'यत्रान्यत् पश्याति तदल्पम्' इस श्रुति में प्रयुक्त अल्प शब्द का प्रतियोगी है। किञ्च अन्य शब्द से निर्दिष्ट धर्मी का प्रतिपादक होने के कारण ही केवल धर्म मात्र का प्रतिपादक न होकर धर्मी का भी प्रतिपादक है। इस तरह भूमा शब्द का अर्थ वैपुल्य हुआ। यदि कहें कि वैपुल्य का विशेष्य कौन है ? तो इसका उत्तर देते हुए श्रीभाष्यकार कहते है-कि इस भूम-

विद्या के प्रकरण के पर्यालोचन से पत्ता चलता है कि वैपुल्य का विशेष्य आत्मा ही है, क्योकि भूमविद्या के उपक्रम तथा उपसंहार में आत्मा शब्द का प्रयोग देखा जाता है। वह इस तरह कि— छा० ७। १। ३) श्रुति में 'आत्मज्ञानी संसार को पार कर जाता है' इस श्रुति से प्रारम्भ करके भूम विज्ञान का उपदेश करके [छा० ७। २५। २] इस श्रुति में—'यह सब आत्मा ही है' इस श्रुति में आत्मा शब्द के द्वारा ही इस विद्या का उपसंहार देखा जाता है।

मूल—अत्र संशय्यते—किमयं भूमगुणविशिष्टः प्रत्यगात्मा, उत परमात्मेति। किं युक्तम् ? प्रत्यगात्मेति। कुतः ? *श्रुतं ह्येव मे भगवद्दृशेभ्यस्तरति शोकमात्मविदित्यात्मजिज्ञासवेऽपदिष्टे नारदः नामादिप्राणपर्यन्तेषूपास्यतयोपदिष्टेषु *अस्ति भगवो नाम्नो भूयः; अस्ति भगवो वाचो भूयः, इत्यादयः प्रश्नाः, *वाग्वाव नाम्नो भूयसी *मनो वाव वाचो भूयः, इत्यादीनि च प्रतिवचनानि, प्राणात्प्राचीनेषु दृश्यन्ते. प्राणे तु न पश्यामः। अतः प्राणपर्यन्त एवायमात्मोपदेश इति प्रतीयते। तेनेह प्राणशब्दनिर्दिष्ट प्राणसहचारी प्रत्यगात्मैव, न वायुविशेषमात्रम्।

*प्राणो ह पिता प्राणो ह माता इत्यादयश्च प्राणस्य चेतनतामवगमयन्ति । *पितृहा...मातृहाइत्यादिना सप्राणेषु पितृप्रभृतिषूपमर्दकारिणि हिंसकत्वनिमित्ताक्रोशवचनात्तेष्वेव विगतप्राणेष्वत्यन्तोपमर्दकारिण्यप्युपक्रोशाभाववचनाच्च हिंसायोग्यश्चेतन एव प्राणशब्दनिर्दिष्टः । अप्राणेषु स्थावरेष्वपि चेतनेषूपमर्दभावाभावयोर्हिंसातदभावदर्शनादयं हिंसायोग्यतया निर्दिष्टः प्राणः प्रत्यगात्मैवेति निश्चीयते । अत एव च अरनाभिदृष्टान्तानुपन्यासेन प्राणशब्दनिर्दिष्टः पर इति न भ्रमितव्यम्, परस्य हिंसाप्रसङ्गाभावात्, जीवादितरस्य तद्भोग्यभोगोपकरणभूतस्य कृत्स्नस्याचिद्वस्तुनो जीवायत्तस्थितित्वेन प्रत्यगात्मन्येवारनाभिदृष्टान्तोपपत्तेश्च ,

अनु०—यहां संशय होता है कि– क्या यह भूमगुणविशिष्ट जीवात्मा है अथवा परमात्मा ? क्या मानना ठीक है ? पूर्वपक्षी का कहना है कि जीवात्मा ही मानना चाहिये–। क्यो कि—'निश्चय ही मैंने आप जैसे आत्म तत्त्ववेत्ताओं से सुना है कि आत्मज्ञानी संसार को पार कर जाते हैं'–(छा० ७ । १ । ३) इस श्रुति में वर्णित आत्मा की जिज्ञासा से सन्निधय प्राप्त नारद

के लिए उप रय रूप से नाम से लेकर प्राण पर्यन्त उपदिष्ट वस्तुओं के विषय में—भगवन् नाम से भी बढ़कर कोई वस्तु है क्या ? [छा०–७।१।५] 'हे भगवान् वाणी से भी बढ़कर कुछ है क्या ? [छा० ७।२।२] इत्यादि प्रश्न किये गये हैं और 'वाणी ही नाम से बढ़कर है।' [छा० ७।२।१] 'मन ही वाणी से बढकर है' [छा० ७।३।१] इत्यादि उसके उत्तर महर्षि सनत्कुमार के द्वारा दिये गये हैं। इस तरह से प्राण तत्त्व के उपदेश से पहले प्रश्न एवं उत्तर देखे जाते हैं, किन्तु प्राण तत्त्व के उपदेश के पश्चात् इस तरह का प्रश्न और उत्तर नहीं देखा जाता है इससे पता चलता है कि प्राण तत्त्व के उपदेश पर्यन्त ही आत्मोपदेश किया गया है। इस लिये यहां प्राण शब्द के द्वारा प्राण के साथ–साथ रहने वाला जीवात्मा ही है। वायु–विशेष मात्र ही नहीं। निश्चय ही प्राण ही पिता और प्राण ही माता है' [७।१५।१] इत्यादि वाक्य भी प्राण की चेतनता को बतलाते हैं।

किञ्च पितृहा मातृहा इत्यादि श्रुति में प्राण युक्त पिता आदि की हिंसा करने वाले के लिए हिंसक होने के कारण निन्दा युक्त वाणी सुनी जाती है। अर्थात् ऐसे लोगों की श्रुति निन्दा करती है [और बतलाती है कि प्राणवान माता पिता आचार्य आदि की हिंसा करने वाले को दुनिया कहती है कि तुम मातृहन्ता पितृहन्ता आचार्यहन्ता हो] किन्तु उन्ही माता, पिता गुरू के प्राण के निकल जाने पर उन्हें अत्यन्त सताना

रूप शूल से छेद छेदकर जलाने पर भी कोई उस जलाने वालों को, मातृहन्ता पितृहन्ता आदि कहकर निन्दा नही करता है। इससे सिद्ध होता है कि हिंसा के योग्य जीव ही यहां पर प्राण शब्द से अभिहित किया गया है। [यदि कहें कि प्राण अपान आदि पाञ्च वृत्तियों वाले प्राण सहित की ही हिंसा करने पर निन्दा, करने में श्रुति का अभिप्राय है तो ऐसी बात नहीं है क्योंकि] देखा जाता है कि प्राण अपानादि पाञ्च वृत्तियों से रहित स्थावर जीवों [हरे वृक्ष आदि] की भी हिंसा करने वाले की निन्दा तथा जीव रहित सुखे वृक्षादि को काटने तथा जलाने वाले की निन्दा का आभाव पाया जाता है। अतएव निश्चित होता है कि हिंसा के योग्य यह प्राण शब्द के द्वारा शरीरधारी जीव ही कहा गया है, प्राणा-पानादि पञ्चवृत्ति वाला वायु विशेष प्राण नहीं। इस लिए यह नहीं भ्रम करना चाहिए कि अरो तथा नाभि के दृष्टान्त का उपन्यस्त करके श्रुति में प्राण शब्द के द्वारा परमात्मा का निर्देश किया गया है, यह भ्रम नहीं करना चाहिए। क्योंकि परमात्मा की हिंसा का कोई प्रसंग हो नहीं है। जीव से भिन्न उसके भोग्य, भोग के साधनभूत जितनी भी वस्तुये हैं उनकी स्थिति सत्ता जीव के ही अधीन रहती है, अतएव उन सबों के जीव के ही ऊपर आश्रित रहने के कारण अर और नाभि के दृष्टान्त की सिद्धि जीवात्मा में ही होती है। (अर्थात् जीवेतर भोग्य तथा भोगोपकरण भूत सभी वस्तुओं की सत्ता उसी

तरह जीव पर आश्रित हैं; जिस तरह रथ चक्र की धूरी पर सभी अर टिके रहते हैं ।)

अयमेव च प्राणशब्दनिर्दिष्टो भूमा, *अस्तिभगवः प्राणाद्भूयः' इति प्रश्नस्य, 'अदो वाव प्राणाद्भूयः' इति प्रतिवचनस्य चाभावाद्भूमसशब्दनात्प्राक्प्राणप्रकरणस्याविच्छेदात् । किञ्च प्राणवेदिनोऽतिवादित्वमुक्त्वा तमेव *एष तु वा अतिवदतीति प्रत्यभिज्ञाप्य *यस्सत्येनातिवदतीति तस्य सत्यवदनं प्राणोपासनाङ्गतयोपदिश्य उपादेयस्य सत्यवदनस्य शेषितया पूर्वनिर्दिष्टप्राणयाथात्म्यविज्ञानं *यदा वै विजानात्यथ सत्यं वदतीत्युपदिश्य तत्सिद्ध्यर्थं च मननश्रद्धानिष्ठाप्रयत्नानुपदिश्य तदारम्भाय च प्राप्यभूतप्राणशब्दनिर्दिष्टप्रत्यगात्मस्वरूपस्य सुखरूपताज्ञानमुपदिश्य तस्य च सुखस्य विपुलता *भूमा त्वेव विजिज्ञासितव्यः इत्युपदिश्यते । तदेवं प्रत्यगात्मन एवविद्याविमुक्तं रूपं विपुलसुखमित्युपदिष्टमिति *तरति शोकमात्मविदित्युपक्रमाविरोधश्च । अतो भूमगुणविशिष्टः प्रत्यगात्मा, यत एवं भूमगुणविशिष्टः प्रत्यगात्मा, अतएवाहमर्थो प्रत्यगात्मनि *अहमेवाधस्तादहमुपरिष्टादित्यारम्य

रम्य अहमेवेदं सर्वमिति प्रत्यागात्मनो भूमनमुपदिशति एवं प्रत्यगात्मत्वे निश्चिते सति तदनुगुणतया वाक्यशेषो नेतव्य इति ॥

अनु०—और प्राण शब्द के द्वारा निर्दिष्ट यह जीव ही भूमा है। किञ्च प्राणतत्त्व के उपदेश के पश्चात हे भगवन प्राण से बढ़कर भी कोई तत्व है ? इस प्रकार के प्रश्न तथा 'अमुक वस्तु प्राण से बढ़कर है ? इस प्रकार के उत्तर का अभाव रहने के कारण तथा उसी प्राण शब्दाभिधेय को ही भूमा शब्द से अभिहित करने के कारण प्राणतत्त्वोपदेश के प्रकरण की समाप्ति भी नहीं स्वीकार की जा सकती। (अर्थात जहां से भूमा विद्या का उपक्रम होता है वहाँ से ही नामतत्त्व के उपदेश के पश्चात् से ही भूयस्त्व=विपुलतरत्व संबन्धी उत्तरोत्तर प्रश्न किये गये है और प्राणतत्त्व के उपदेश के बाद भूयस्त्व संबन्धी प्रश्न की समाप्ति हो गयी है। अतएव वपुल्य सीमाभूमि प्राणशब्द वाच्य आत्मा ही है फलतः वही भूमा शब्द का अर्थ है। यदि सिद्धान्ती यह कहें कि प्राण तत्त्व के प्रकरण- और भूमोपदेश के प्रकरण भिन्न-भिन्न हैं। तो यह भी नहीं माना जा सकता है। क्योंकि यदि प्राणोपासक को अतिवादी न कहकर श्रुति सत्योपासक को अतिवादी बतलाती तो फिर प्रकरण की भिन्नता मानी जाती। किन्तु श्रुति ऐसा नहीं करती (वह तो)-प्राणतत्त्व वेदी को अतिवादी बतलाकर, 'यह तो

अतिवादी है' इस श्रुति के द्वारा उसको ही दृढ़ करके, जो सत्य के द्वारा अतिवाद करना है' इस श्रुति के द्वारा सत्यवा-

दिता को प्राणोपासना के अङ्ग रूप से उपदेश करके, उपादेय सत्यवादिता के अङ्गीरूप से पूर्वनिर्दिष्ट प्राण याथात्म्य विज्ञान का 'जब वह विशेष रूप से जानता है-तो फिर सत्य बोलता है।" इस श्रुति के द्वारा उपदेश करके, और उसको सिद्धि के लिए—मनन, श्रद्धा, तथा निष्ठा के प्रयत्नों का उपदेश करके, प्राणोपासना का आरम्भ करने के लिए प्राणशब्द के द्वारा निर्दिष्ट प्राप्यभूत जीवात्मा के स्वरूप की सुख स्वरूपता ज्ञान का उपदेश किया गया है और उसी सुख की विपुलता का उपदेश 'भूमा को ही विशेष रूप से जानना चाहिए।' इस श्रुति से किया गया है। (यदि यहां पर सिद्धान्ती यह प्रश्न करें कि अणु स्वरूप जीव का विपुलत्वरूप भूमात्व कैसे संभव है? तो इसका उत्तर है कि यहां पर जीव के परिमाण की विपुलता नहीं विवक्षित है, अपितु यहां पर सुख के उत्कर्ष रूपी वैपुल्य ही विवक्षित हैं, इस अर्थ का ज्ञान—"यो वैभूमा तत् सुखम्' अर्थात् जो भूमा है वही सुख है, इस श्रुति में सुख तथा भूमा के सामानधिकरण्येन निर्देश के द्वारा ही ज्ञान हो जाता है। तो इसका उत्तर है कि) उपर्युक्त प्रकार से यह बतलाया गया है कि जीव का ही अविद्या से रहित होना ही विपुल सुख है। इसका-'आत्मवेत्ता शोक को पार कर जाता है इस उपक्रम से विरोध भी होता है। अतएव वैपुल्य गुण

विशिष्ट जीवात्मा ही है। चूंकि वैपुल्यगुण विशिष्ट प्रत्यगात्मा ही है, अतएव अहमर्थ प्रत्यगात्मा में—'मै ही नीचे हूँ मै ही ऊपर हूँ' इस श्रुति से प्रारम्भ करके 'मैं ही यह सब कुछ हूं, इस तरह से मुक्त जीवात्मा के ऐश्वर्य का श्रुति उपदेश करती जीवात्मत्व का निश्चय हो जाने पर उसके अनुकूलरूप से ही अन्य वाक्यों के ही अर्थ का निर्वाह करना चाहिए।

टिप्पणी—तदेवमित्यादि का अभिप्राय यह है कि जीव की दो अवस्थायें होती हैं-बद्धावस्था तथा मुक्तावस्था। मुक्तावस्था में आविर्भूतगुणाष्टक हो जाने के कारण वह जीव सुखप्रचुर होता है। उसी सुख प्रचुर स्वरूप को भूमा शब्द के द्वारा अभिहित किया गया है। यदि कहें कि परमात्मा के दर्शन के अभाव में शोक का संतरण कैसे संभव है ? तो इसका उत्तर है-कि ऐश्वर्य के अनुभव के समान ही कैवल्य रूपी मोक्ष का अनुभव भी दुःख मिश्रित नहीं होता है। क्योंकि कैवल्य में वस्त्वन्तर का अनुभव नहीं होता है। इसीलिए श्रुति भी कहती है-"यत्रनान्यत् पश्यति' इत्यादि। अतएव परमात्म दर्शन के अभाव में भी शोक का संतरण संभव है, यह पूर्वपक्षी के कहने का अभिप्राय है।

एवं प्राप्तेऽभिधीयते—भूमा संप्रसादादध्युपदेशात्। भूमगुणविशिष्टो न प्रत्यगात्मा, अपि तु परमात्मा। कुतः ? संप्रसादादध्युपदेशात्; संप्रसादः—प्रत्यगात्मा* एष संप्रसादोऽस्माच्छरीरात्समुत्थाय परं ज्योतिरुप

सम्पाद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते इत्युपनिषत्प्रसिद्धेः सम्प्रसादात् प्रत्यगात्मनोऽधिकतया भूमविशिष्टस्य सत्य-शब्दाभिधेयस्योपदेशादित्यर्थः। सत्यशब्दाभिधेयं च परं ब्रह्म। एतदुक्तं भवति—यथा नामादिषु प्राणपर्यन्तेषु पूर्वपूर्वाधिकतयोत्तरोत्तराभिधानात्पूर्वेभ्य उत्तरेषामर्थान्तरत्वम्, एवंप्राणशब्दनिर्दिष्टात्प्रत्यगात्मनोऽधिकतया निर्दिष्टस्सत्यशब्दाभिधेयस्तस्मादर्थान्तरभूत एव सत्य-शब्दनिर्दिष्ट एव भूमेति सत्याख्यं परं ब्रह्मैव भूमेत्युपदिश्यत इति। तदाह वृत्तिकारः *भूमा त्वेवेति भूमा ब्रह्म नामादिपरंपरया आत्मन ऊर्ध्वमस्योपदेशादिति। प्राणशब्दनिर्दिष्टादधिकतया सत्यस्योपदेशः कथमवगम्यत इति चेत्, *स वा एष एवं पश्यन्नेवं मन्वान एवं विजानन्नतिवादी भवतीति प्राणविदोऽतिवादित्वमुक्त्वा *एष तु वा अतिवदति यस्सत्येनातिवदतीति सत्यवेदित्वेनातिवादिनं तुशब्देन पूर्वस्मादतिवादिनो व्यावर्तयति। अत एष *एष तु वा अतिवदतीत्यत्र प्राणातिवादिनो न प्रत्यभिज्ञा। अतोऽस्यातिवादित्वनिमित्तं सत्यं पूर्वातिवादित्वनिमित्तात्प्राणादधिकमिति विज्ञायते॥

अनु०–उपर्युक्त प्रकार का पूर्वपक्ष उपस्थित होने पर सुत्रकार कहते है—

भूमासम्प्रसाददध्युपदेशात् ॥ १ । ३ । ८ ॥ अर्थात् भूम (वैपुल्य) गुण विशिष्ट जीवात्मा नहीं ८, अपितु वह परमात्मा ही है। क्योंकि–सम्प्रसादादध्युपदेशात्। सम्प्रसाद जीवात्मा को कहते हैं। क्योंकि उपनिषद् में प्रसिद्ध है कि यह–सम्प्रसाद अर्थात जीवात्मा इस शरीर से निकलकर परंज्योति (परमात्मा) मे मिलकर अपने (आविर्भत गुणाष्टक) रूप से निष्पन्न (युक्त) हो जाता है (छां० ७। १६) तो सम्प्रसादात्=जीव की अपेक्षा उससे श्रेष्ठरूप से वैपुल्यगुण विशिष्ट सत्यशब्दाभिधेय का उपदेश देखा जाता है। और सत्यशब्द से परंब्रह्म ही कहा जाता है। कहने का अभिप्राय है कि–जैसे नाम से लेकर प्राणपर्यन्त वस्तुओ में पूर्व–पूर्व की अपेक्षा उत्तरोत्तर वस्तुओं को अधिकता बताये जाने के कारण पूर्व–पूर्व वस्तुओ की अपेक्षा उत्तरोतर वस्तुओं की भिन्नता सिद्ध होती है। इसी तरह प्राण शब्द से निर्दिष्ट जीवात्मा से विपुलतररूप से निर्दिष्ट सत्यशब्दाभिधेय (परमात्मा) जीवात्मा से भिन्न ही है। और सत्य शब्द स निर्दिष्ट ही भूमा है। अतएव सत्यनामक परंब्रह्म ही भूमा है, यह श्रुति उपदेश देती है। इसी अर्थ को बतलाते हुए वृत्तिकार भूमात्वेव–इत्यादि प्रतीक के द्वारा कहते है—भूमा (वैपुल्य गुण विशिष्ट) ब्रह्म ही है, क्योंकि नाम आदि की परम्परा के द्वारा इसका जीवात्मा की अपेक्षा आधिक्योपदेश श्रुति करती

है। (अर्थात् भूमाविद्या के प्रकरण में पूर्व-पूर्व निर्दिष्ट नामादि की अपेक्षा विपुलतररूप से प्राणपर्यन्त तत्त्वों का निर्देश किया गया है। प्राणशब्द वाच्य जीव की अपेक्षा विपुलरूप से कहा गया सत्यशब्द वाच्य उपास्य भूमा है। इसलिए जीव की अपेक्षा सत्यपद वाच्य भूमा है। इसलिए जीव की अपेक्षा सत्यशब्दवाच्य भूमा परंब्रह्म से बढ़कर है। यह वृत्तिकार के कहने का अभिप्राय है। चूँकि वृत्तिकार ने 'आत्मन ऊर्ध्वम्' कहा है अतएव उनको प्राणशब्द वाच्य जीवात्मा ही अभिप्रेत है, पञ्चभूत्यात्मक वायुविशेष प्राण नहीं, यह प्रतीत होता है। (अतएव प्राण शब्द वाच्य के अर्थ में पूर्वपक्षी तथा सिद्धान्ती का ऐकमत्य है। किन्तु प्राणशब्द वाच्य को ही पूर्वपक्षी भूमा मानता है, और सिद्धान्ती प्राण शब्द वाच्य जीवात्मा से भिन्न उससे विपुल सत्यशब्द वाच्य परमात्मा को भूमा मानते हैं यह सिद्धान्ती और पूर्वपक्षी में वैमत्य है।)

यदि पूर्वपक्षी यह कहे कि—कैसे आप यह कह सकते हैं कि प्राण शब्द वाच्य जीवात्मा की अपेक्षा सत्य शब्द वाच्य अधिक (विपुलतर) है? तो इसका उत्तर है कि—'निश्चय ही यह प्रसिद्ध प्राणोपासक, इस तरह से जीवात्मा का साक्षात्कार करता हुआ इस तरह से उसे मानता हुआ तथा इसी प्रकार से उसे जानता हुआ अतिवादी हो जाता है। अर्थात् अपने उपास्य वस्तु को सर्वोत्कृष्ट बतलाता है। (७।१५।४ इस श्रुति के द्वारा प्राणतत्त्ववेत्ता के अतिवादित्व को बतलाकर "यह उपासक

तो:अतिवादी (अपने उपास्य तत्त्व को सर्वोत्कृष्ट रूप से प्रतिपादक हो जाता है जो सत्य शब्दवाच्य परमात्मा की उपासना से अतिवादी होता है। (छा० ७ । १६ । १) इस श्रुति के द्वारा सत्यवेत्ता होने के कारण इस अतिवादी को श्रुति तु शब्द के प्रयोग के द्वारा पूर्वोक्त जीवात्म तत्त्ववेत्ता अतिवादी की अपेक्षा सत्योपासक अतिवादी की अधिक रूप से भिन्नता श्रुति बतलाती है। अतएव एष तुवा अतिवदति श्रुति में प्रोक्त अतिवादित्व का कारण सत्य इससे पहले वर्णित अतिवादित्व के कारण-भूत 'प्राण की अपेक्षा विपुल है, यह ज्ञात होता है।

टिप्पणी—'एष तुवा' श्रुति में उपासकाधिक्य के कारण उपास्याधिक्य को बतलाने के लिए तु शब्द के स्वारस्य के द्वारा उपासक वैलक्षण्य को कहा गया है। 'तु' शब्द समान रूप से धर्म एवं धर्मी के भेद को बतलाता है। एषु तु वा अतिवदति इत्यादि श्रुति में आया हुआ सत्य शब्द परमात्मा का वाचक है। क्योंकि दहरविद्या में कहा गया है कि—'तस्य वा एतस्य ब्रह्मणो सत्यं नाम' अर्थात् इस प्रसिद्ध ब्रह्म का नाम सत्य है।' 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' श्रुति में भी सत्य शब्द ब्रह्म का वाचक है। अतएव 'ब्रह्म के कारण जो अतिवादी होगा वह जीव की उपासना के कारण होने वाले अतिवादी की अपेक्षा श्रेष्ठ है। उसी की श्रेष्ठता सूचित करने के लिए तु शब्द का प्रयोग श्रुति में किया गया है।

मूल०—ननु च प्राणवेदिन एव सत्यवदनसङ्गत्वेनोपदिष्टम्, अतः प्राणप्रकरणाविच्छेद इत्युक्तम् । नैतद्युक्तम्—तुशब्देन ह्यतिवाद्येवान्यः प्रतीयते, न तु तस्यैवातिवादिनस्सत्यवदनाङ्गविशिष्टतामात्रम् । *एष तु वा अग्निहोत्री यस्सत्यं वदतीत्यादिष्वग्निहोत्र्यन्तराप्रतीतेः, प्रतीतस्यैवाग्निहोत्रिणस्सत्यवदनाङ्गविधानमिति क्लिष्टा गतिराश्रीयते । अत्र त्वतिवाद्यन्तरत्वनिमित्तं सत्यशब्दाभिधेयं परं ब्रह्म प्रतीयते । सत्यशब्दश्च *सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्मेत्यादिषु परस्मिन्ब्रह्मणि प्रयुक्तः, अतस्तन्निष्ठस्यातिवादिनः पूर्वस्मादधिकत्वं संप्रतीति वाक्यस्वरसप्रसिद्धमन्यत्वं न बाधितव्यम् । अतिवादित्वं हि वस्त्वन्तरात्पुरुषार्थतयाऽतिक्रान्तस्योपास्यवस्तुवादित्वम् । नामाद्याशापर्यन्तोपास्यवस्त्वातिक्रान्तस्योपास्यप्राणशब्दनिर्दिष्टप्रत्यगात्मवादित्वात्प्राणविदित्वम् । तस्याधिकत्व सातिशयपुरुषार्थनिरतिशयपुरुषार्थतयोपास्यब्रह्मवादिन एव साक्षादतिवादित्वमिति *एष तु वा अतिवदति यस्सत्येनातिवदतीत्युक्तम् । सत्येनेतीत्थंभूतलक्षणे तृतीया, सत्येन परेण ब्रह्मणोपास्येनोपलक्षितो योऽतिवदतीत्यर्थः । अत एवैव शिष्यः प्रार्थयते *सोऽहं भगवस्सत्येनातिवदानीति । आचार्यश्च *सत्यं त्वेव विजिज्ञासितव्यमित्याह ।

*आत्मनः प्राणः इति च प्राणशब्दनिर्दिष्टस्यात्मन उत्पत्ति-रुच्यते। अतः *तरति शोकमात्मविदिति प्रक्रान्त आत्मा प्राणशब्दनिर्दिष्टादन्य इति गम्यते ॥

अनु०—यदि पूर्वपक्षी यह शंका उठाये कि प्राणतत्त्ववेत्ता के प्राणोपासना के अङ्गरूप से सत्यबोलने का उपदेश श्रुति में किया गया है। अतएव यहां पर प्राण तत्त्वोपदेश के प्रकरण का विच्छेद नहीं है। यह पहले ही कहा जा चुका है। तो यह कहना उचित नहीं है। तु शब्द के द्वारा अतिवादी की ही भिन्नता की प्रतीति होती है, न कि उसी अतिवादी की सत्यादित्वरूप अङ्ग की शिष्टता मात्र बतलायी गयी है। 'निश्चय ही यह अग्निहोत्री है जो सत्यबोलता है।' इत्यादि वाक्यो में दूसरे अग्नि होत्री की प्रतीति न होने मात्र से अग्निहोत्री के सत्यबोलना रूपअङ्ग का विधान किया गया है; यह क्लिष्ट कल्पना स्वीकार की जाती है और इस भूमा विद्या के प्रकरण में तो दूसरे अतिवादी के होने का कारण सत्य शब्द से कहे जाने वाला परं ब्रह्म प्रतीत होता है। 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म (तै ३। ११ १) इत्यादि श्रुति में सत्यशब्द का प्रयोग परब्रह्म के ही अर्थ में हुआ है। अतएव सत्योपासक अतिवादी की प्राणोपासक अतिवादी की अपेक्षा अधिकता सिद्ध होती है। इसलिए वाक्य के स्वारस्य से सिद्ध अतिवादी की भिन्नता को बाधित नहीं करना चाहिए। अब प्रश्न उठता है कि अतिवा–

दित्व पदार्थ क्या है ? तो इसका उत्तर देते हुये श्री भाष्यकार कहते हैं कि–पुरुषार्थ के रूप में अपने उपास्यवस्तु की सर्वापेक्षया अधिक बतलाना ही अतिवादित्व कहलाता है। प्राणतत्त्ववेत्ता की अतिवादिता यही है कि नाम से लेकर आशा पर्यन्त उपास्य वस्तुओं से बढ कर अपने उपास्य भूत प्राणशब्द निर्दिष्ट जीवात्मा को ही सर्वश्रेष्ठ रूप से बतलाता है किन्तु आत्मोपासना के भी सीमित पुरुषार्थ होने के कारण तथा सीमातीत पुरुषार्थरूप से उपास्य परंब्रह्म को ही बतलाने वाले का ही साक्षात् अतिवादित्व सिद्ध होता है–इस अर्थ को 'निश्चय ही यह सर्वोत्कृष्ट अतिवादी है जिसमें अतिवादिता सत्योपासना के कारण आती है।' यह पहले भी कहा जा चुका है। सत्येन में 'इत्थंभूत लक्षणे' सूत्र से इत्थंभाव के अर्थ में तृतीया समझनी चाहिए। अर्थात् सत्यस्वरूप परंब्रह्म की उपास्यता की विशिष्टता के कारण जो अतिवादी होता है। उसी अतिवादी के प्रतिपादन में श्रुति का तात्पर्य समझना चाहिये : इसलिये शिष्य नारद इस प्रकार से प्रार्थना करते हैं—'भगवन् उपयुक्त प्रकार से सत्य शब्द वाच्य परंब्रह्म का उपास्यता विशिष्ट होकर मै उसका अतिवादन करता हूँ।" और आचार्य सनत्कुमार भी कहते— सत्य शब्द वाच्य परंब्रह्म की ही विशेष रूप से जिज्ञासा करनी चाहिए ! किञ्च–'आत्मनः प्राणः' अर्थात् आत्मा से प्राणशब्द वाच्य जीवात्मा उत्पन्न हुआ।' यह श्रुति प्राणशब्द निर्दिष्ट जीवात्मा की आत्मा अर्थात् परमात्मा से उत्पत्ति बतलाती है

अतएव 'तरति शोकमात्मवित्' इस श्रुति से जिसका उपक्रम किया गया है वह आत्मा प्राणशब्द के द्वारा निर्दिष्ट जीवात्मा से भिन्न ही है यह सिद्ध हुआ।

मूल०—यत्तूक्तम 'अस्ति भगवः प्राणाद्भूयः' इति प्रश्नस्य, 'अदो वाव प्राणाद्भूयः' इति प्रतिवचनस्य चादर्शनात्प्रक्रान्त आत्मोपदेशः प्राणोपदेशपर्यवसानो गम्यत इति, तदयुक्तम्। नहि प्रश्नप्रतिवचनाभ्यामेवार्थान्तरत्वं गम्यते। प्रमाणान्तरेणापि तत्संभवात् उक्तञ्च प्रमाणान्तरम्। 'अस्ति भगवः प्राणाद्भूयः' इतिपृच्छतोऽयमभिप्रायः—नामादिष्वाशापर्यन्तेष्वचेतनेषु पुरुषार्थभूयस्तया पूर्वपूर्वमतिक्रान्तेष्वप्युत्तरोत्तरेषूपदिष्टेषु तत्तद्वेदिन आचार्येणातिवादित्वं नोक्तम्। प्राणशब्दनिर्दिष्टप्रत्यगात्मयाथात्म्यवेदिनस्तु पुरुषार्थभूयस्त्ववादित्वमुक्तम्। अतोऽत्रैवात्मोपदेशस्समाप्त इति मत्वा शिष्यो भूयो न पप्रच्छ। आचार्यस्त्वेवमपि सातिशयं मत्वा निरतिशयपुरुषार्थभूतं सत्यशब्दाभिधेयं परं ब्रह्म *एष तु वा अतिवदति यस्सत्येनातिवदतीति स्वयमेवोपक्षेप। शिष्योऽपि परमपुरुषार्थरूपे परस्मिन्ब्रह्मण्युपक्षिप्ते तत्स्वरूपतदुपासनयाथात्म्यबुभुत्सया *सोऽहं भगवस्सत्येनातिवदानीति प्रार्थया-

मास । ततो ब्रह्मसाक्षात्कारनिमित्तातिवादित्वसिद्धये ब्रह्मसाक्षात्कारोपायभूतं ब्रह्मोपासनम् *सत्यं त्वेव विजिज्ञासितव्यमित्युपदिश्य तदुपायभूतं ब्रह्ममननम् *मतिस्त्वेव विजिज्ञासितव्येत्युपदिश्य श्रवणप्रतिष्ठार्थत्वान्मननस्य मननोपदेशेन श्रवणमर्थसिद्ध मत्वा श्रवणोपायभूतां ब्रह्मणि श्रद्धाम *श्रद्धा त्वेव विजिज्ञासितव्येत्युपदिश्य तदुपायभूतां च तन्निष्ठाम् *निष्ठा त्वेव विजिज्ञासितव्येत्युपदिश्य तदुपायभूतां च तदुद्योगप्रयत्नरूपां कृतिमपि *कृतिस्त्वेव विजिज्ञासितव्येत्युपदिश्य। श्रवणाद्युपक्रमरूपाकृतिसिद्धये प्राप्यभूतस्य सत्यशब्दाभिहितस्य ब्रह्मणस्सुखरूपता ज्ञातव्येति *सुखं त्वेव विजिज्ञासितव्यमित्युपदिश्य निरतिशयविपुलमेव सुखं परमपुरुषार्थरूपं भवतीति तस्यैव ब्रह्मणस्सुखरूपस्य निरतिशयविपुलता ज्ञातव्येति *भूमा त्वेव विजिज्ञासितव्य इत्युपदिश्य निरतिशयविपुलसुखरूपस्य ब्रह्मणो लक्षणमिदमुच्यते *यत्र नान्यत्पश्यति नान्यच्छृणोति नान्यद्विजानाति स भूमा, इति । अयमर्थः—अनवधिकातिशयसुखरूपे ब्रह्मण्यनुभूयमाने ततोऽन्यत्किमपि न पश्यत्यनुभविता, ब्रह्मस्वरूपतद्विभूत्यन्तर्गतत्वाच्च कृत्स्नस्य

वस्तुजातस्य। अत ऐश्वर्यापरपर्यायविभूतिगुणविशिष्टं निरतिशयसुखरूपं ब्रह्मानुभवन् तद्व्यतिरिक्तस्य वस्तुनोऽभावादेव किमप्यन्यन्न पश्यति, अनुभाव्यस्य सर्वस्य सुखरूपत्वादेव दुखं च न पश्यति। तदेव हि सुखम् यदनुभूयमानं पुरुषानुकूलं भवति।

अनु०—पूर्व पक्षी ने यह जो कहा है कि भगवन्! प्राण से भी विपुलतर कोई वस्तु है! इस प्रकार के प्रश्न तथा अमुकवस्तु निश्चय ही प्राण की अपेक्षा विपुलतर है इस प्रकार के प्रतिवचन का अभाव होने के कारण 'तरति शोकमात्मवित्' इस श्रुति से उपक्रान्त आत्मोपदेश का पर्यवसान प्राणोपदेश में ही पर्यवसित होता है। तो पूर्वपक्षी का यह कहना भी उचित नहीं है। क्योंकि केवल प्रश्न एवं उसके उत्तर मात्र से ही वस्त्वन्तरत्व की प्रतीति नहीं होती है, अपितु दूसरे प्रमाण के द्वारा भी अर्थान्तरत्व का ज्ञान होता है। वह प्रमाणान्तर क्या है? इसको कहा जा चुका है। 'भगवन प्राण से भी विपुलतर कुछ है? इस प्रकार से नहीं पूछने वाले शिष्यनारद का यह अभिप्राय है कि नाम से लेकर आशा पर्यन्त जड़वस्तुओं के विषय में पुरुषार्थ विपुलतरत्व के कारण पूर्व-पूर्व की अपेक्षा श्रेष्ठ रूप से जिन तत्वों का उत्तरोत्तर उपदेश किया जा चुका है उनके जानकारों को आचार्य ने अतिवादी नहीं माना है। किन्तु प्राण शब्द के द्वारा निर्दिष्ट

जीवात्मा के स्वरूप यथात्म्य (वास्तविक स्वरूप) को जानने वाले आचार्य विषय में पुरुषार्थ वैपुल्य की सीमा को मानने वाले आचार्य के द्वारा निश्चय ही आत्मा को इस प्रकार से देखता हुआ, मनन करता हुआ और विशेष रूप से जानता हुआ प्राणोपासक अतिवादी हो जाता है।—इस श्रुति के माध्यम से उसके उपास्यभूत सर्वोत्कृष्ट वस्तुवादित्व का प्रतिपादन किया किया गया है। अतएव आत्मोपदेश यहीं समाप्त हो गया; यह समझकर शिष्य ने उसका अपेक्षा विपुलतर वस्तु की जिज्ञासा नहीं की। किन्तु आचार्य ने यह सोचकर कि यह जीवात्मोपास्यत्व भी सीमित पुरुषार्थ है, यह मानकर तथा सीमातीत पुरुषार्थ स्वरूप सत्यशब्दाभिधेय परं ब्रह्म ही है—यह मानकर—निश्चय ही यह उपासक प्राणोपासक की अपेक्षा उत्कृष्ट अतिवादी है, जो अपनी सत्योपास्यत्वविशिष्टता के कारण अतिवदन करता है।' इस अर्थ को स्वयम उपक्षिप्त किया। और शिष्य नारद ने भी—परम पुरुषार्थ रूप से पर ब्रह्म के उपक्षिप्त होने पर उसके स्वरूप तथा उसकी उपासना के वास्तविक स्वरूप को जानने की इच्छा से आचार्य से प्रार्थना किया—'हे भगवन। मैं सत्योपास्यत्व विशिष्ट होकर स्वोपास्य विषय का अतिवदन करूं।' इसके पश्चात् ब्रह्म साक्षात्कारजन्य अतिवादित्व की सिद्धि के लिए अपेक्षित ब्रह्म साक्षात्कार के उपायभूत ब्रह्म की उपासना का— "अतिवादित्व की प्राप्ति के लिये ब्रह्म साक्षात्कारोपयोगी उसके उपायभूत सत्य की उपासना करनी चाहिए' (छा० ७। १६। १)

यह उपदेश देकर, उसके उपायभूत ब्रह्म के मनन का 'मतिस्त्वेव विजिज्ञासितव्या' (छा० ७ । १७ । १) के द्वारा उपदेश करके श्रवण के स्थैर्य के लिये अपेक्षित मनन को आवश्यक होने के कारण, मनन के उपदेश से श्रवण सार्थक हो गया यह मान कर, श्रवण के लिए अपेक्षित श्रद्धा का उपदेश 'श्रद्धात्वेव विजि-ज्ञासितव्या' (अर्थात श्रद्धा को ही जानना चाहिए' (छा०. ७ । । १९ । १) इस श्रुति के द्वारा किया गया है । किन्तु श्रद्धा के लिए निष्ठा अपेक्षित होती है. अतएव उसका 'उपदेश निष्ठा-त्वेवविजिज्ञासितव्या' (छा० ७ । २० । १) अर्थात् निष्ठा को ही जानना चाहिए ।' इस श्रुति द्वारा दिया गया है । निष्ठा के लिए भी अपेक्षित निष्ठा की प्राप्ति के अनुकूल उद्योग तथा प्रयत्न स्वरूपा कृति को—'कृतिस्त्वेवविजिज्ञासितव्या' (छा० उ० ७ । २१ । १) अर्थात् कृति को ही यथार्थ रूप मे जानना चाहिए। इस श्रुति के द्वारा उपदिष्ट किया गया है । किन्तु श्रवण आदि के आरम्भरूप कृति (उद्योग के लिए अपेक्षित है कि प्राप्यभूत सत्यशब्दाभिधेय ब्रह्म की सुखस्वरूपता का ज्ञान हो अतएव उसका उपदेश सुखंत्वेव विजिज्ञासितव्यम' छा०उ० ७ । २२ । १) अर्थात् सुख को ही जानना चाहिये इस श्रुति के द्वारा किया गया है । चूंकि सीमातीत विपुल सुख ही परम पुरुषार्थ का स्वरूप होता है, अतएव उस सुखस्वरूप ब्रह्म की ही सीमातीत वैपुल्य रूप से उपासना करनी चाहिए—इस अर्थ का उपदेश भूमा की ही उपासना करनी चाहिए ।' इस श्रुति से प्रारम्भ करके

सर्वोत्कृष्ट विपुल सुख स्वरूप ब्रह्म का यह लक्षण बतलाते हैं— जिसका ज्ञान हो जाने पर उपासक तद्व्यतिरिक्त किसी अन्य वस्तु को न, तो देखता है, न तो सुनता है और न तो ध्यान करता है वही वैपुल्य सम्पन्न ब्रह्म है।'

कहने का आशय है कि—सीमातीत सर्वोत्कृष्ट सुख स्वरूप ब्रह्म का अनुभव कर लेने पर अनुभव करने वाला इस सुख स्वरूप ब्रह्म से भिन्न किसी भी वस्तु को नहीं देखता, क्योंकि जितनी भी वस्तुयें हैं वे ब्रह्म के स्वरूप तथा उसकी विभूति के अन्तर्गत आ जाती है। अतएव ऐश्वर्य ही जिसका दूसरा पर्याय-वाची शब्द है उस विभूति तथा अपने कल्याणकारक गुणों से विशिष्ट सीमातीत सुखस्वरूप ब्रह्म का अनुभव करता हुआ ब्रह्म से भिन्न किसी वस्तु के न रहने के ही कारण वह ब्रह्मदर्शी उपासक ब्रह्म व्यतिरिक्त वस्तु को नहीं देखता। किञ्च उसके द्वारा अनुभव करने के योग्य सभी विभूतियों से युक्त ब्रह्मसुख स्वरूप ही है अतएव दुःखों का अनुभव नहीं कर पाता है। क्यों कि सुख उसे ही कहते हैं जिसको अनुभव करने वाला पुरुष सुखरूप से अनुभव करता है।

मूल०—ननु चेदमेव जगद्ब्रह्मणोऽन्यतयाऽनुभूयमानं दुःखरूपं परिमितसुखरूपं च भवत्कथमिव ब्रह्मविभूतित्वेन तदात्मकतयाऽनुभूयमानं सुखरूपमेव भवेत्? उच्यते—कर्मवश्यानां क्षेत्रज्ञानां ब्रह्मणोऽन्यत्वेनानुभूयमानं कृत्स्नं

जगत्तत्तत्कर्मानुरूपं दुःखं च परिमितसुखं च भवति। अतो ब्रह्मणोऽन्यतया परिमितसुखत्वेन दुःखत्वेन च जगदनुभवस्य कर्मनिमित्तत्वात्कर्मरूपाविद्याविमुक्तस्य तदेव जगद्विभूतिगुण विशिष्टब्रह्मानुभवान्तर्गतं सुखमेव भवति। यथा पित्तोपहतेन पीयमानं पयः पित्ततारतम्येनाल्पसुखं विपरीतं च भवति, तदेव पयः पित्तानुपहतस्य सुखायैव भवति, यथैव राजपुत्रस्य पितुर्लीलोपकरणमतथात्वेनानुसन्धीयमानं प्रियत्वमनुपगतं तथात्वानुसन्धाने प्रियतमं भवति, तथा निरतिशयानन्दस्वरूपस्य ब्रह्मणोऽनवधिकातिशयासंख्येयकल्याणगुणाकरस्वलीलोपकरणं तदात्मकं चानुसन्धीयमानं जगन्निरतिशयप्रीतये भवत्येव। अतो जगदैश्वर्यविशिष्टमनवधिकातिशयसुखरूपं ब्रह्मानुभवंस्ततोऽन्यत्किमपि न पश्यति, दुःखं च न पश्यति, एतदेवोपपादयति वाक्यशेषः *स वा एष एवं पश्यन्नेवं मन्वान एवं विजानन्नात्मरतिरात्मक्रीड आत्ममिथुन आत्मानन्दस्स स्वराड्भवति तस्य सर्वेषु लोकेष्वकामचारो भवति* इति। स्वराट्—अकर्मवश्यः अन्यराजानः—कर्मवश्याः। तथा *न पश्यो मृत्युं पश्यति न रोगं नोत दुःखताम्। सर्वं ह पश्यः पश्यति

सर्वमाप्नोति सर्वशः ।। इति च । निरतिशयसुखरूपत्वं च ब्रह्मणः *आनन्दमयोऽभ्यासादित्यत्र प्रपञ्चितम् । अतः प्राणशब्दनिर्दिष्टात्प्रत्यगात्मनोऽर्थान्तरभूतस्य सत्य-शब्दाभिधेयस्य ब्रह्मणो भूमेत्युपदेशाद्भूमा परं ब्रह्म ।७।

अनु०—यदि पूर्व पक्षी यहाँ पर यह शंका करे कि–जो यह जगत् ब्रह्म से भिन्न रूप अनुभव किया जाता हुआ दुख स्वरूप एवं सीमित (अल्प) सुख वाला माना जाता है, (क्योंकि जगत् को दुःख स्वरूप तथा अल्प सुख वाला ही मान कर शाश्वत एवं अक्षय्य सुखस्वरूप दुखरहित मोक्षाधिगम के लिए उपासक की प्रवृति होती है । यदि संसार ऐसा नहीं होता तो फिर क्यों कोई संसार को त्याग कर ब्रह्म संबन्धी जिज्ञासा करता है ?) वही जगत् ब्रह्म की विभूति होने से ब्रह्मात्मक होने के कारण सुख रूप से कैसे अनुभव किया जा सकता है ? (क्योंकि देखा जाता है कि कोई भी वस्तु अनुभविता के भेद से भिन्न-भिन्न रूप से नहीं अनुभवकी जाती । जैसे कड़वी निम्ब को कोई कड़वी और कोई मधुर नहीं अनुभव करता है।' साँप को कोई अनुकूल तथा कोई प्रतिकूल रूप से अनुभव करे ऐसा नहीं देखा जाता है । बल्कि सभी उसे प्रतिकूल ही समझते हैं। अतएव दुःख मिश्र अल्प सुख वाले जगत् को ब्रह्म की विभूति के रूप से देखने वाला उपासक सुख रूप से उसका कैसे अनुभव कर सकता है ?) तो इस शंका का समाधान करते हुये श्रीभाष्यकार

कहते हैं—कर्मपरतन्त्र जीवों के द्वारा ब्रह्म से भिन्न रूप से अनुभव किया जाता हुआ सम्पूर्ण जगत उनके पुण्य पाप रूप विभिन्न कर्मों के अनुकूल उनके लिए दुःख स्वरूप होता है। अतएव ब्रह्म से भिन्न रूप से तथा सीमित सुखरूप से तथा दुःखरूप से जगत का अनुभव करने का कारण पुण्य-पाप रूप कर्म है। पुण्य-पाप रूप कर्मों के अज्ञान से रहित मुक्तात्मा को वही जगत सम्पूर्ण जगत रूपी ऐश्वर्य तथा ज्ञानानन्दात्मत्वादि गुणों से विशिष्ट ब्रह्मानुभूति के अन्तर्गत आ जाने के कारण सुख स्वरूप ही प्रतीत होता है। उदाहरणार्थ प्रकुपित पीन वाले मनुष्यों के द्वारा पिया जाता हुआ दुग्ध पीने वालों की पित्त की अधिकता और न्यूनता के कारण क्रमशः विपरीत तथा अल्प स्वाद होता है। किन्तु वही दुग्ध पित्तरोग-रहित व्यक्ति के लिये केवल सुखद ही होता है। जिस तरह कोई राजा का पुत्र हो वह अपने पिता के क्रीडा के साधन कन्दुक उद्यान आदि को यदि पिता की लीला का साधन न माने तो वे साधन उसे प्रिय नहीं लगेंगे; किन्तु यदि वह उन साधनों को स्वयं भी पिता की क्रीडा का साधन मानने लगता है तो उसके लिए वे वस्तुयें प्रियतम हो जाती हैं। इसी तरह सर्वोत्कृष्ट आनन्द स्वरूप सीमातीत सर्वोत्कृष्ट, संख्या रहित कल्याण गुणों के एक मात्र आश्रय परब्रह्म की लीला के साधन तथा ब्रह्मात्मक रूप परमात्मोपासक के द्वारा अनुभव किया जाता हुआ जगत उसके सीमातीत आनन्द प्रदान

का कारण बन जाता है। अनन्तर जगत् रूपी ऐश्वर्य से विशिष्ट सीमातीत सर्वोत्कृष्ट सुखस्वरूप ब्रह्म का अनुभव करने वाला, किसी भी वस्तु को ब्रह्मात्मक व्यतिरिक्त रूप से नहीं देखता। (यही मत्रं नान्यत श्रुति का तात्पर्यार्थ है।) पुण्य-पाप रूप कर्मों के समाप्त हो जाने पर जगत् की दुखरूपता समाप्त हो जाती है, इसी अर्थ को वाक्य शेष प्रतिपादित करते हुए कहता है– "निश्चय ही वह सत्य शब्द वाच्य ब्रह्मोपासक उपरिवर्णित प्रकार से देखता हुआ, मनन करता हुआ एवं निदिध्यासन जन्य प्रीति रूप रति, उद्यानादि जन्य प्रीति रूप क्रीडा सख, वनितादि संगमादि जन्य सुख, तथा विभूति जन्य सुख का अनुभव करता है। वह देदीप्यमान हो जाता है। वह यथेष्टरूप से सभी लोकों में आता जाता है। और जो जगत् को ब्रह्म की विभूति नहीं जानते–वे आत्म व्यतिरिक्त नियम्य होने के कारण क्षय्य-लोकों को प्राप्त करते हैं। उन उपासकों का सभी लोकों में यथेष्ट गमन नहीं होता है।

इस श्रुति का स्वराटपद कर्म पारतन्त्र्य राहित्य का वाचक है। अन्यराजान:=पद कर्म वश्यता रूपी उपाधि सम्पन्न जीवों को बतलाता है। और 'ब्रह्मदर्शी मुक्त जीव को मरण, न तो दुख के साधन, और न तो संसार में प्रतिकूलता का अनुभव करता है। सब साक्षात कर्ता वह अपने सत्य संकल्प मात्र से ही अपने संकल्पित सभी पदार्थों को सदा प्राप्त करता रहता है।' छा० ७।२६।१) यह श्रुति भी उपर्युक्त अर्थ को ही बतलाती है। ब्रह्म

के सीमातीत सुख रूपता को 'आनन्दमयोऽभ्यासात्।' सूत्र में विस्तार के साथ बतलाया गया है। अतएव प्राण शब्द से अभिहित जीवात्मा से भिन्न सत्य शब्द के द्वारा कहे जाने वाले ब्रह्म का भूमा रूप से उपदेश श्रुति के द्वारा किये जाने के कारण भूमा=वैपुल्यधर्मावच्छिन्न परं ब्रह्म ही है।

७३ धर्मोपपत्तेश्च । १ । ३ । ८ ॥

मूल०—अस्य भूम्नो ये धर्मा आम्नायन्ते, तेऽपि परस्मिन्नेवोपपद्यन्ते। ❀एतदमृतमिति स्वाभाविकममृतत्वम्, ❀स्वे महिम्नीत्यनन्याधारत्वम्, ❀स एवाधस्तादित्यादि ❀स एवेदं सर्वमिति सर्वात्मकत्वम्, आत्मतः प्राण इत्यादि-प्राणप्रभृतिसर्वस्योत्पादकत्वमित्यादयो हि धर्माः परमात्मन एव। यत्तु ❀अहमेवाधस्तादित्यादिना सर्वात्मकत्वमुपदिष्टम्, तद्धर्मविशिष्टस्य ब्रह्मणोऽहंग्रहेणोपासनमुपदिश्यते, ❀अथातोऽहङ्कारादेशः इत्यहंग्रहोपदेशोपक्रमात्। अहमर्थस्य प्रत्यगात्मनोऽपि आत्मा परमात्मेत्यन्तर्यामिब्राह्मणादिषूक्तम्। अतः प्रत्यगर्थस्य परमात्मपर्यवसानादहंशब्दोऽपि परमात्मपर्यवसायीति प्रत्यगात्मशरीरकत्वेन परमात्मानुसन्धानार्थोऽयमहंग्रहोपदेशः। परमात्मनस्सर्वशरीरतया सर्वात्मत्वात्प्र-

त्यगात्मनोऽप्यात्मा परमात्मा तदेव※ अथात आत्मादेश इत्यादिना ※आत्मैवेदं सर्वमित्यन्तेनोच्यते। एतदेवोपपादयितुं प्रत्यगात्मनोऽप्यात्मभूतात्परमात्मनस्सर्वस्योत्पत्तिरुच्यते ※तस्य ह वा एतस्यैवं पश्यत एवं मन्वानस्यैवं विजानत आत्मतः प्राण आत्मत आकाशः इत्यादिना। उपासकस्यान्तर्यामितयाऽवस्थितात्परमात्मनस्सर्वस्योत्पत्तिरित्यर्थः। अतः परमात्मनः प्रत्यगात्मशरीरकत्वज्ञानप्रतिष्ठार्थमहंग्रहोपासनं कर्तव्यम्। तस्माद्भूमविशिष्टः परमात्मैवेति सिद्धम् ॥ ८ ॥

अनु०--किञ्च भूमा शब्दाभिधेय परं ब्रह्म के जिन धर्मों का आम्नाम छान्दोग्य श्रुतियां करती है उन धर्मो का औचित्य भी परं ब्रह्म मे ही सिद्ध होता है। यह सूत्र का अर्थ श्रीभाष्यकार लिखते हैं।) 'तदमृतम्' श्रुति परंब्रह्म के स्वाभाविक अमृतत्त्व को बतलाती है। 'स्वेमहिम्नि' श्रुति बतलाती है--कि परब्रह्म किसी दूसरे पर नही आधृत है। 'स एवाधस्तात्' श्रुति ब्रह्म को जगत् का मूल बतलाती है। 'स एवेदं सर्वम्' श्रुति में ब्रह्म को सबो की आत्मा बतलाया गया है। 'आत्मतः प्राणः इत्यादि श्रुति प्राण आदि सबों का उत्पादक बतलाती है। ये सभी धर्म परमात्मा के ही हैं, आत्मा के नहीं। और जो कि 'अहमेवाधस्तात्' इत्यादि श्रुति के द्वारा सर्वात्मकत्व का उपदेश

श्रुति करती है वह भी वैपुल्य गुण विशिष्ट परमात्मा की ही 'मैं, मै इस शब्द से वाच्य अहमर्थ बुद्ध्या उपासना बतलाती है। क्योंकि अहमर्थ का वाचक अहम् शब्द परमात्मा तक का वाचक होता है। क्योंकि 'अथायऽमहंकारादेशः' [छा० ७। २५।] अर्थात् यहां से अहंबुद्ध्या भूमा शब्द वाच्य परमात्मा की उपासना का उपदेश दिया जाता है।' इस श्रुति के द्वारा अहम् बुद्धया भूमोपासना का प्रारम्भ होता है। अहमर्थ जीवात्मा के भी आत्मा परमात्मा ही है, इस अर्थ को अन्तर्यामी ब्रह्मण आदि में बतलाया गया है। अतएव जीवात्मा का पर्यवसान परमात्मा में ही होने के कारण अहं शब्द की चरमपरिणति परमात्मा में ही होती है। इसलिए जीवात्म शरीरक रूप से परमात्मा का अनुसंधान करने के लिए ही यह 'मैं मैं' इस बुद्धि से भूमगुण-विशिष्ट परमात्मा की उपासना बतलायी गयी है। चूंकि परमात्मा का सम्पूर्ण जंगत् शरीर है अतएव वह सबों की आत्मा है, इसलिए परमात्मा जीवात्मा की भी आत्मा है। इसी अर्थ को—'अाथात आत्मादेशः" (छा० ७। २५) अर्थात् अब परंब्रह्म के आत्मत्व का उपदेश किया जा रहा है। यहां से प्रारम्भ करके 'यह सम्पूर्ण जगत् परमात्मात्मक ही है, इस श्रुति पर्यन्त बतलाया जाता है। इसी अर्थ को सिद्ध करने के लिए जीवात्मा के आत्माभूत परमात्मा से सबों की उत्पत्ति को–तस्यहवा एत-स्यैवं पश्यत् एवं मन्वानस्यैवं विजानत आत्मनः प्राण आत्मन आकाशः (छा० ७। २५) इत्यादि श्रुति के द्वारा कहा गया है

इस श्रुति का अर्थ है—जो उपासक अन्तर्यामी आत्मारूप से परमात्मा का साक्षात्कार, मनन एवं उपासना करता है उसके आत्मभूत परमात्मा से ही सम्पूर्ण प्राण शब्दाभिधेय जीव आदि की तथा आकाशादि की उत्पत्ति होती है। अतएव परमात्मा के जीवात्म शरीरक रूप से उपासना की दृढ़ता के लिए ही अहमर्थ रूप से ही परमात्मा की उपासना करनी चाहिए। इसलिए सिद्ध हुआ कि वैपुल्यगुण विशिष्ट परमात्मा ही है।

इस तरह शारीरकमीमांसा के श्रीभाष्य के प्रथम अध्याय के तृतीय पादस्थ भूमाधिकरण का हिन्दी अनुवाद समाप्त हुआ।



अक्षराधिकरण का आरम्भ

७४ अक्षरमम्बरान्तधृतेः । १ । ३ । ९ ॥

मूल०—वाजसनेयिनो गार्गिप्रश्ने समामनन्ति *सहोवाचैतद्वै तदक्षरं गार्गि ब्राह्मणा अभिवदन्ति अस्थूलमनण्वह्रस्वदीर्घमलोहितमस्नेहमच्छायम् *इत्यादि । तत्र संशयः—किमेतदक्षरं प्रधानम्, जीवो वा, उत परमात्मेति । किं युक्तम् ? प्रधानमिति । कुतः ? *अक्षरात्परतः परः इत्यादिष्वक्षरशब्दस्य प्रधाने प्रयोगदर्शनादस्थूलत्वादीनां च तत्र समन्वयात् । *यया तदक्षरमधिगम्यते इत्यादिषु परस्मिन्नप्यक्षरशब्दो दृश्यत इति चेन्न, प्रमाणान्तरप्रसिद्धश्रुतिप्रसिद्धयोः प्रमाणान्तरप्रसिद्धस्य प्रथमप्रतीतेः, प्रतीतपरिग्रहे विरोधाभावात् । किंच, *यदूर्ध्वं गार्गि दिवो, यदर्वाक्पृथिव्याः इत्यारभ्य सर्वस्य कालत्रितयवर्तिनः कारणभूताकाशाधारत्वे प्रतिपादते *कस्मिन्नु खल्वाकाश ओतश्च प्रोतश्चेत्याकाशस्यापि कारणं तदाधारभूतं किमिति पृष्टे प्रत्युच्यमानमक्षरं सर्वविकारकारणतया तदाधारभूतं

प्रमाणान्तरप्रसिद्धं प्रधानमिति प्रतीयते, अतोऽक्षरं प्रधानम् ।।

अनु०—(बृ० ३ । ८ । ८) श्रुति में आया हुआ अक्षर शब्द परमात्मा परब्रह्म का ही वाचक है, क्योंकि उक्त श्रुति उसे अम्बरान्त अर्थात् प्रकृति के आधार रूप से उपदेश करती है। यह सूत्र का अर्थ हुआ।

वाजसनेयी शाखा वाले बृहदारण्यकोपनिषद् में गार्गी के प्रश्न के प्रकरण में यह सामाम्नान करते हैं—'सहोवाचेतद्वै तदक्षरं गार्गी ब्राह्मणा अभिवदन्ति अस्थूलमनणु अह्स्वमदीर्घम-लोहितमस्नेहमच्छायम्।' (बृ० ३ । ८ । ८ इत्यादि। गार्गि के प्रश्न को सुन कर याज्ञवल्क्य ने कहा—हे गार्गि निश्चय ही यही वह अक्षर तत्त्व है जिसका निरूपण करते हुए ब्रह्मज्ञानी जन कहा करते हैं कि जगत् में जो गुणमय कार्य कारण आदि स्थूल; अणु, ह्रस्व तथा दीर्घ रूप से मिलते हैं उनसे वह अक्षर तत्त्व अत्यन्त विलक्षण है। अतएव वह अग्न्यादि महा-भूतों के गुण, रूप, स्नेह आदि से रहित होने के कारण महा-भूतों से अत्यन्त विलक्षण हैं।' अब इस श्रुति के विषय में यह संशय होता है कि यह अक्षर शब्द वाच्य प्रकृति है, अथवा जीव है या परमात्मा है? इन तीनों में कौन सा पक्ष मानना उचित है? पूर्वपक्षी का कहना है कि अक्षर शब्द वाच्य प्रकृति ही है, क्योंकि—'अक्षरात् परतः परः' श्रुति में अक्षर शब्द का प्रयोग प्रकृति के अर्थ में देखा जाता है। किञ्च अस्थूलत्व

आदि का उसी में ही समन्वय भो सम्भव है।

यदि कहें कि—'ययातदक्षरमधिगम्यते' अर्थात् जिस परा विद्या के द्वारा उस पुरुष परमात्मा की प्राप्ति होती है।' इत्यादि श्रुति में अक्षर पद का प्रयोग परंब्रह्म परमात्मा के ही अर्थ में देखा जाता है तो यह कहना उचित नहीं होगा। क्योंकि प्रमाणान्तर के द्वारा प्रसिद्ध तथा श्रुति के द्वारा प्रसिद्ध यदि दोनों प्रकार के विषय में किसी शब्द के दो वाच्य हों तो उन दोनों प्रकार के अर्थों में प्रमाणान्तर प्रसिद्ध ही अर्थ सर्व प्रथम बुद्धयारूढ़ होता है। और जिस वस्तु की प्रतीत हो उसको स्वीकार कर लेने में कोई विरोध नहीं होता है।

किञ्च—हे गार्गि जो द्युलोक से उपर तथा पृथिवो लोक के नीचे विद्यमान है' (बृ० ३ । ८ । ४) इस श्रुति से लेकर सभी तीनों काल में रहने वाले वस्तुओं के कारणभूत आकाश के आधाररूप से प्रतिपादित किए जाने पर 'वह आकाश किसमें ओत-प्रोत है ? (बृ० । ३ । ८ । ७) इस श्रुति के द्वारा आकाश का भी कारण तथा उसका आधारभूत क्या है ? यह गार्गी के द्वारा पूछे जाने पर उसके उत्तर में कहा जाने वाला अक्षर शब्द वाच्य सभी विकारों (कार्यों) का कारण होने तथा आधार होने के कारण प्रधान ही है, यह प्रमाणान्तरों के द्वारा प्रतीत होता है। अतएव (बृ० । ३ । ८ । ८)

श्रुति में प्रोक्त अक्षर शब्द वाच्य प्रधान (प्रकृति) ही है।

टिप्पणीः—जिस तरह भूमाधिकरण में प्राण शब्द के स्वारस्य भूत पञ्चवृत्ति प्राण को नहीं स्वीकार करके प्राणाधिकरण आत्मा को स्वीकार किया गया है उसी प्रकार इस प्रकरण में भी अक्षर शब्द के स्वारस्य का त्याग नहीं करना चाहिये। किञ्च जिस तरह प्रामाणिक रूप से भूमाधिकरण में भूमपुख स्वारस्य को स्वीकार किया गया है उसी प्रकार से यहां भी प्रामाणिक अक्षर शब्द के स्वारस्य भूत अर्थ को स्वीकार करना चाहिए। किञ्च जिस तरह भूमाधिकरण में प्रदर्शित जीवापेक्षया परमात्मा के अधिकत्व में प्रमाण होने के कारण भूमा शब्द वाच्य वैपुल्य विशिष्ट परमात्मा को ही प्रामाणिक रूप से स्वीकार किया गया है उसीतरह से अक्षर शब्द के परमात्म वाचकत्व में कोई प्रमाण नहीं है। अतएव अक्षर शब्द वाच्य परमात्मा नहीं हो सकता, अपितु अक्षर शब्द प्रकृति का ही वाचक है, यही इस प्रकरण के पूर्वपक्ष के उत्थान की संगति है।

प्रमाणान्तर सिद्ध श्रुति प्रसिद्धयोः प्रमाणान्तर सिद्धस्य प्रथम प्रतीते—का अभिप्राय है कि प्रत्यक्षोपजीवी अनुमान प्रमाण है तथा प्रत्यक्षएवं अनुमानोपजीवी शब्द प्रमाण होता है प्रधान की सिद्धि अनुमान के द्वारा होती है। और शब्द प्रमाण अनुमानोपजीवी है। अतएव उपजीव्य प्रमाण सिद्ध प्रधान की प्रतीति होने पर उपजीवी प्रमाण सिद्ध परमात्मा को कैसे अक्षर शब्द का अर्थ स्वीकार किया जा सकता है?

क्योंकि सर्वप्रथम तो अनुमान सिद्ध ही अर्थ बुद्ध्यारूढ़ होगा ?

मूल०—इति प्राप्ते उच्यते—अक्षरमम्बरान्तधृतेः । अक्षरं परं ब्रह्म, कुतः ? अम्बरान्तधृतेः, अम्बरस्यआकाशस्य, अन्तः—पारभूतम् अव्याकृतमम्बरान्तः, तस्य धृतेः—तदाधारतयाऽस्याक्षरस्योपदेशादिति यावत् । अयमर्थः-
*कस्मिन्नु खल्वाकाश ओतश्च प्रोतश्चेत्यत्राकाशशब्द-निर्दिष्टं न वायुमदम्बरम्, अपितु तत्पारभूतमव्याकृतम्, अतस्तस्याव्याकृतस्याप्याधारत्वेनोच्यमानमक्षरं नाव्याकृतं भवितुमर्हतीति । नन्वाकाशशब्दनिर्दिष्टो न वायुमानिति कथमवगम्यते ? उच्यते-*यदूर्ध्वं गार्गि दिवो यदर्वाक्पृथिव्या यदन्तरा द्यावापृथिवी इमे यद्भूतं च भवच्च भविष्यच्चेत्याचक्षते आकाश एव तदोतं च प्रोतंच *इत्युक्ते त्रैकाल्यवर्तिनो विकारजातस्याधारतया निर्दिष्टं भूतसूक्ष्ममिति प्रतीयते । ततस्तस्यापिभूत सूक्ष्मस्याधारभूतं किमिति पृच्छ्यते *कस्मिन्नु खल्वाकाश ओतश्च प्रोतश्चेति । अतस्तदाधारतया निर्दिश्यमानमक्षरं न प्रधानं भवितुमर्हति । यत्तु श्रुतिप्रसिद्धात्प्रमाणान्तरप्रसिद्धं प्रथमं प्रतीयत इति, तन्न; अक्षरशब्दस्यावयवशक्त्या स्वार्थ-

प्रतिपादने प्रमाणान्तरानपेक्षणात् , संबन्धग्रहणदशायामर्थस्वरूपं येन प्रमाणेनावगम्यते, न तत्प्रतिपादनदशायामपेक्षणीयम् ॥ ९ ॥

अनु०—उपर्युक्त प्रकार का पूर्व पक्ष उपस्थित होने पर सिद्धांती कहते हैं—अक्षरमम्बरान्तधृतेः ॥ १ । ३ । १० ॥ अर्थात् अक्षर शब्द वाच्य परंब्रह्म ही है क्योंकि—अम्बरान्तधृतेः। अम्बर शब्द आकाश का वाचक है उससे भी बढ़कर अत्यन्त सूक्ष्म उसका भी कारणभूत अम्बरान्त शब्द वाच्य प्रकृति है। उस प्रकृति के भी आधार रूप से अक्षर का उपदेश श्रुति करती है। अतएव वह परंब्रह्म ही हो सकता है। कहने का अभिप्राय है कि 'कस्मिन्नु खल्वाकाश ओतश्च प्रोतश्च।' इस श्रुति में आकाश शब्द के द्वारा वायु के आश्रयभूत आकाश को नहीं निर्दिष्ट किया गया है, अपितु वह उससे भी बढ़कर उसके भी कारण प्रकृति को बतलाता है। अतएव उस अव्याकृत प्रकृति के भी आधाररूप से कहा जाने वाला अक्षर शब्द वाच्य प्रकृति नहीं हो सकती, अपितु वह उससे भिन्न ही उसका कारणभूत होगा।

अब प्रश्न यह उठता है कि उक्त श्रुति में आकाश शब्द के द्वारा वायु के आश्रयभूत आकाश को नहीं बतलाया गया है इसका पता कैसे चलता है। तो इसका उत्तर है कि—हे गार्गि जो द्युलोक के उपर तथा पृथिवी के नीचे ही विद्यमान है। जिसके अन्तर्गत ही द्युलोक तथा पृथिवी लोक है। तथा

ये सभी वस्तुयें जो भूत, भविष्य, एवं वर्तमान शब्दों के द्वारा अभिहित की जाती है, वे भी जिसके अन्तर्गत ही है वह आकाश ही है। उसी में सभी विकारजात ओत-प्रोत है। वही इन सभी विकारों का कारण है। छ० ३। ७। १) ऐसा महर्षि याज्ञवल्क्य द्वारा कहे जाने पर त्रिकालवर्ती सभी कार्यों के आधाररूप से निर्दिष्ट आकाश वायु का आश्रयभूत भूताकाश नहीं हो सकता, क्योंकि वह भी प्रकृति के कार्य समूहों के अन्तर्गत आता है। अतएव पता चलता है कि यहां आकाश शब्द के द्वारा भूतसूक्ष्म (प्रकृति) ही कही गयी है। पुनः उस भूतसूक्ष्म का आधार क्या है? यह गार्गी द्वारा पूछा जाता है—'उस आकाश का भी आश्रय क्या है?' (छा० ३। ७) अतएव उसके भी आधार रूप से जिसका निर्देश किया गया है वह अक्षर शब्द वाच्य प्रकृति नहीं हो सकती है। (अपितु उस प्रकृति से भी भिन्न प्रकृति के भी कारण भूत परब्रह्म ही अक्षर शब्द के वाच्यार्थ हैं)

पूर्व पक्षियों का यह जो कहना है कि श्रुतिप्रसिद्ध की की अपेक्षा प्रमाणान्तर प्रसिद्ध की प्रतीति होती है, तो यह कहना उचित नहीं है। क्योंकि अक्षर शब्द की अपनी अवयव शक्ति के द्वारा अपने अर्थ के प्रतिपादन में प्रमाणान्तर की कोई अपेक्षा नहीं होती है। (अतएव अर्थ प्रतीति का कारण अवयव शक्ति ही है उसके लिये प्रमाणान्तर अपेक्षित नही होता है। किन्तु संबन्ध ग्रहण की स्थिति में वस्तु का स्वरूप जिस प्रमाण

के द्वारा ज्ञात होता है वह उसके प्रतिपादन दशा में उसकी उपेक्षा नहीं करनी चाहिए।

मूल०—एवं तर्ह्यक्षरशब्दनिर्दिष्टो जीवोऽस्तु, तस्य भूतसूक्ष्मपर्यन्तस्य कृत्स्नस्याचिद्वस्तुन आधारत्वोपपत्तेः, अस्थूलत्वाद्युच्यमानविशेषणोपपत्तेश्च *अव्यक्तमक्षरे लीयते *यस्याव्यक्तं शरीरं *यस्याक्षरं शरीरं *क्षरस्सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते इत्यादिषु प्रत्यगात्मन्यप्यक्षरशब्दप्रयोगदर्शनादित्यत्रोत्तरम्—

अनु०—उपर्युक्त पूर्व पक्षी के कथन के विरोध में पूर्वपक्षी का कहना है कि तब तो फिर यह मानना चाहिए कि अक्षर शब्द से जीव को निर्दिष्ट किया गया है। क्योंकि वह भूत सूक्ष्म पर्यन्त सम्पूर्ण जड़ वस्तुओं का आधार सिद्ध हो सकता है। किञ्च अक्षर शब्द वाच्य के जिन अस्थूलत्व आदि विशेषणों को श्रुति बतलाती है उनकी उत्पत्ति भी हो सकती है। किञ्च–'अव्यक्त प्रकृति का अक्षर (जीव) में लय होता है।' जिस परमात्मा का प्रकृति शरीर है जिसका अक्षर (जीव) शरीर है। सभी जीवक्षर है और जो कूटस्थ जीव मुक्त पुरुष है वह अक्षर शब्द से अभिहित किया जाता है।' इन सभी श्रुतियों एवं स्मृतियों में अक्षर शब्द का प्रयोग प्रत्यगात्मा (जीवात्मा) के अर्थ में देखा जाता है। तो पूर्व पक्षी की इस शंका का समाधान करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

७५ सा च प्रशासनात् । १ । ३ । १० ॥

मूल०—सा चाम्बरान्तधृतिरस्मादक्षरस्य प्रशासनादेव भवतीत्युपदिश्यते ॐएतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि सूर्याचन्द्रमसौ विधृतौ तिष्ठतः, एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गिद्यावापृथिव्यौ विधृते तिष्ठतः, एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि निमेषा मुहूर्ता अहोरात्राण्यर्धमासा मासा ऋतवस्संवत्सरा इति विधृतास्तिष्ठन्ति ॐइत्यादिना । प्रशासनम्—प्रकृष्टं शासनम् । न चेदृशं स्वशासनाधीनसर्ववस्तुविधरणं बद्धमुक्तोभयावस्थस्यापि प्रत्यगात्मनस्संभवति । अतः पुरुषोत्तम एव प्रशासित्रक्षरम् ॥ १० ॥

अनु०—और वह प्रसिद्ध परमात्मा का आकाशाधारात्व जगत् प्रशासकत्व के कारण ही है, यह श्रुति उपदेश देती है, (यह सूत्र का अर्थ श्रीभाष्यकार कहते हैं।) अर्थात् हे गार्गि इस अक्षर शब्द वाच्य परमात्मा के प्रशासन में सूर्य और चन्द्रमा नियमित होते रहते हैं। हे गार्गि निश्चय ही इस अक्षर शब्द वाच्य परमात्मा के प्रशासन में द्युलोक एवं पृथिवी लोक नियमित हैं। हे गार्गि इस अक्षर शब्द वाच्य परमात्मा के ही प्रशासन में निमेष, मुहूर्त, दिन-रात, पक्ष, मास, ऋतु, सम्वत् सर इत्यादि नियमित होते हैं। इत्यादि प्रकृष्ट शासन को प्रशासन कहते हैं। इस तरह अपने शासन के अधीन सभी

वस्तुओं का नियामकत्व बद्धमुक्त किसी भी अवस्था में रहने वाले किसी भी जीवात्मा का सम्भव नहीं है । अतएव पुरुषोत्तम ही प्रशासिता एवं अक्षर शब्द वाच्य हैं ।

७६ अन्यभावव्यावृत्तेश्च । १ । ३ । ११ ॥

मूल०—अन्यभावः—अन्यत्वम्, प्रधानादिभावः । अस्याक्षरस्य परमपुरुषादन्यत्वं वाक्यशेषे व्यावर्त्यते ❀तद्वा एतदक्षरं गार्ग्यदृष्टं द्रष्टृश्रुतं श्रोत्रमतं मन्त्रविज्ञातं विज्ञातृ नान्यदतोऽस्तिद्रष्टृ नान्यदतोऽस्ति श्रोतृ, नान्यदतोऽस्ति मन्तृ, नान्यदतोऽस्ति विज्ञातृ, एतस्मिन्नु खल्वक्षरे गार्ग्याकाश ओतश्च प्रोतश्च❀ इति । अत्र द्रष्टृत्वाश्रोतृत्वाद्युपदेशादस्याक्षरस्याचेतनभूतप्रधानभावो व्यावर्त्यते, सर्वैरदृष्टस्यैव सतस्सर्वस्य द्रष्टृत्वश्रोतृत्वाद्युपदेशाच्च प्रत्यगात्मभावो व्यावर्त्यते । अत इयमन्यभावव्यावृत्तिरस्याक्षरस्य परमपुरुषतां द्रढयति । एवं वाऽन्यभावव्यावृत्तिः—अन्यस्य सद्भावव्यावृत्तिरन्यभावव्यावृत्तिः, यथैतदक्षरमन्यैरदृष्टं सदन्येषां द्रष्टृ च स्वव्यतिरिक्तस्य समस्तस्याधारभूतम्, एवमनेनादृष्टमेतस्य द्रष्टृ च सदेतस्याधारभूतमन्यन्नास्तीति वदन् ❀नान्यदतोऽस्ति द्रष्टृ इत्यादिवाक्यशेषोऽन्यस्य सद्भावं व्यावर्तयन्नस्याक्षरस्य प्रधानभावं प्रत्यगात्मभावं

च प्रतिषेधति । किञ्च *एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि ददतो मनुष्याः प्रशंसन्ति यजमानं देवा दर्वी पितरोऽन्वायत्ताः इति श्रौतं स्मार्तं च यागदानहोमादिकं सर्वं कर्म यस्याज्ञया प्रवर्तते; तदक्षरं परब्रह्मभूतः पुरुषोत्तम एवेति विज्ञायते । अपि च *यो वा एतदक्षरं गार्ग्यविदित्वास्मिँल्लोके जुहोति यजते तपस्तप्यते बहूनि वर्षसहस्राण्यन्तवदेवा य तद्भवति यो वा एतदक्षरं गार्ग्यविदित्वाऽस्माल्लोकात्प्रैति स कृपणः, अथ य एतदक्षरं गार्गि विदित्वाऽस्माल्लोकात्प्रैति स ब्राह्मणः *इति यदज्ञानात्संसारप्राप्तिर्यज्ज्ञानाच्चमृततत्त्वप्राप्तिस्तदक्षरं परं ब्रह्मैवेति सिद्धम् ॥ ११ ॥

अनु०:—चूंकि अक्षर शब्द वाच्य की प्रधानादिभाव से भिन्नता का प्रतिपादन श्रुति करती है, अतएव अक्षर शब्द वाच्य परं ब्रह्म ही है, जीव अथवा प्रकृति नहीं । यह सूत्र का अर्थ हुआ । अन्यभाव=भिन्नत्व को कहते हैं । अतएव अन्यत्व का अर्थ है प्रधानादिभाव । इस अक्षर शब्द वाच्य की परम पुरुष से भिन्नता का निषेध गार्गि ब्राह्मण के वाक्य शेष से किया गया है । वह वाक्य शेष इस प्रकार का है—हे गार्गि निश्चय ही इस अक्षर शब्द वाच्य परमात्मा से बढ़कर कोई वस्तु नहीं है । अपने व्याप्य भूत जडचेतन संसार के द्वारा यह सम्पूर्ण

अदृष्ट है, किन्तु सबों का यह द्रष्टा है [यह अन्यों के द्वारा श्रुत न होकर भी स्वेतर समस्त वस्तुओं का श्रोता है। दूसरों के द्वारा मनन का विषय न बनाये जाने पर भी यह सबों का मनन करने वाला है। इस परमात्मा से भिन्न उसके सदृश कोई दूसरा दृष्य श्रोता, मन्ता एवं विज्ञाता नहीं है। हे ! गार्गि इस अक्षर पुरुष में ही आकाश ओत-प्रोत है।" इस वाक्य में द्रष्टृत्व, श्रोतृत्व आदि के उपदेश द्वारा इस अक्षर शब्द वाच्य की जड़ प्रधान भाव से व्यावृत्ति होती है। जिसका किसी भी योगी आदि के द्वारा साक्षात्कार नहीं किया जा सका है, उसी परमात्मा के द्रष्टत्व आदि का प्रतिपादन कर श्रुति उसके बद्ध और मुक्त इन दोनों अवस्थाओं में रहने वाली जीवों से भिन्नता बतलायी गयी है। अतएव यह अन्य (प्रकृति तथा पुरुष) से भिन्नता का प्रतिपादन इस अक्षर के परम पुरुषत्व को दृढ़ करता है। अथवा सूत्रस्थ अन्यभाव व्यावृत्ति का अभिप्राय इस प्रकार से जानना चाहिये—अन्य के सद्भाव की व्यावृत्ति को अन्यभाव व्यावृत्ति कहते हैं। जैसे—यह अक्षर पुरुष दूसरों के दर्शन का विषय न होकर भी सबों का साक्षात्कार करता है। तथा वह अपने से भिन्न सबों का आधार है। [इस वाक्य शेष का अभिप्राय अक्षर शब्द वाच्य पुरुष के सदृश पुरुषान्तर के निषेध में है। जैसे कहा जाय कि उस ग्राम में देवदत्त के सदृश कोई पुरुष नहीं है। इस वाक्य का अभिप्राय प्रकृत देवदत्त पुरुषान्तर के निषेध में है। न कि सभी पुरुषों का अभाव यह वाक्य बतलाता है।]

इसी प्रकार उस वाक्य शेष के माध्यम से इस परमात्मा के द्वारा अदृष्ट तथा इस परमात्मा का द्रष्टा पुरुष तथा इस जगत् का आधारभूत कोई दूसरा नहीं है, यह कहती हुई [इस अक्षर पुरुष को छोड़कर इसके सदृश कोई भी दूसरा द्रष्टा नहीं है ।' वाक्य शेष श्रुति भी अक्षर व्यतिरिक्त अन्य किसी के भी इसके सदश द्रष्टृत्व केसद्भाव का निषेध करती हुई बतलाती है कि यह अक्षर शब्द वाच्य प्रकृति अथवा पुरुष [जीव] नहीं हो सकते हैं ।

किञ्च—हे गार्गि! निश्चय ही इस अक्षर पुरुष के आज्ञानुसार दान करने वाले को प्रशंसा सभी प्रतिगृहीता मनुष्य करते हैं, क्योंकि वह दान अक्षय्य होता है । इसी तरह उसी की आज्ञा से याग में प्रवृत्त यजमान की देवता प्रशंसा करते हैं, तथा उस अक्षर पुरुष की आज्ञा से ही श्राद्ध में प्रवृत्त व्यक्ति की पितृगण प्रशंसा करते हैं ।' (छा० ३।८।९ , इस श्रुति में उक्त जिस अक्षर पुरुष की आज्ञा से श्रौत–स्मार्त सभी याग, दान होम आदि कर्म प्रवृत्त होते हैं वह अक्षर पुरुष परमब्रह्म पुरुषोत्तम ही हैं । यह श्रुति के पर्यालोचन से पता चलता है ।

और भी 'हे गार्गि ! जो व्यक्ति इस अक्षर पुरुष के के प्रशासकत्व रूप महिमा को जाने विना इस लोक में हवन, याग तथा अनेकों प्रकार के हजार वर्षों तक तपस्या करता है, उसके सभी कर्म क्षयी होते हैं । हे गार्गि ! जो पुरुष इस सम्पूर्ण

जगत् के प्रशासक परमात्मा अक्षर पुरुष की उपासना किये विना ही इस लोक मे चला जाता है वही शोचनीय है । और जो इस अक्षर पुरुष को उपासना करके इस लोक से महाप्रयाण करता है वह परब्रह्म के अनुभव से सम्पन्न होता है ।" इस श्रुति मे वर्णित जिस अक्षर पुरुष की उपासना के अभाव में ससार की प्राप्ति तथा जिसकी उपासना से मोक्ष की प्राप्ति होती है, वह अक्षर पुरुष परब्रह्म परमात्मा ही है; यह सिद्ध हुआ ।

* ईक्षतिकर्माधिकरण का प्रारम्भ *

ईक्षतिकर्म व्यपदेशात्सः ।१।३।१२।।

मूल–आथर्वणिकास्सत्यकामप्रश्नेऽधीयते *यः पुनरेतं त्रिमात्रेणोमित्यनेनैवाक्षरेण परं पुरुषमभिध्यायीत स तेजसि सूर्ये संपन्नः, यथा पादोदरस्त्वचा विनिर्मुच्यते एवं ह वै स पाप्मना विनिर्मुक्तस्स सामभिरुन्नीयते ब्रह्मलोकं स एतस्माज्जीवघनात्परात्परं पुरिशयं पुरुषमीक्षते *इति । अत्र ध्यायतीक्षतिशब्दावेकविषयौ, ध्यानफलत्वादीक्षणस्य, *यथाक्रतुरस्मिंल्लोके पुरुषः इति न्यायेन ध्यानविषयस्यैव प्राप्यत्वात्, *परं पुरुषमित्युभयत्र कर्मभूतस्यार्थस्य प्रत्यभिज्ञानाच्च ।। तत्र

संशय्यतेकिमिह परं पुरुषमिति निर्दिष्टो जीवसमष्टि-रूपोऽण्डाधिपतिश्चतुर्मुखः, उत सर्वेश्वरः पुरुषोत्तम इति । किं युक्तम् ? समष्टिक्षेत्रज्ञ इति । कुतः ? *स यो ह वैतद्भगवन्मनुष्येषु प्रायणान्तमोङ्कारमभिध्यायीत कतमं वाव स तेन लोकं जयति इति प्रक्रम्यैकमात्रं प्रणवमुपासीनस्य मनुष्यलोकप्राप्तिमभिधाय; द्विमात्रमुपासीनस्य अन्तरिक्षलोकप्राप्तिमभिधाय, त्रिमात्रमुपासीनस्य प्राप्यतयाऽभिधीयमानो ब्रह्मलोकोऽन्तरिक्षात्परो जीवसमष्टिरूपस्य चतुर्मुखस्य लोक इति विज्ञायते, तद्गतेन चेक्ष्यमाणस्तल्लोकाधिपतिश्चतुर्मुख एव । *एतस्माज्जीवघनात्परात्परमिति च देहेन्द्रियादिभ्यः पराद्देहेन्द्रियादिभिस्सह घनीभूताज्जीवव्यष्टिपुरुषाद् ब्रह्मलोकवासिनस्समष्टिपुरुषस्य चतुर्मुखस्य परत्वेनोपपद्यते । अतोऽत्र निर्दिश्यमानः परः पुरुषस्समष्टिपुरुषश्चतुर्मुख एव । एतं चतुर्मुखत्वे अजरत्वादयो यथाकथञ्चिन्नेतव्याः ॥

अनु०—(प्र० ५।५) श्रुति में चूँकि प्रापणीय रूपसे इच्छा का विषय अक्षर अमृत पुरुष को ही बतलाया गया है अतएव

वह पुरुष परमात्मा ही है चतुर्मुख ब्रह्मा नहीं । यह सूत्र का अर्थ है ।

प्रश्नोपनिषद् में अथर्ववेद का अध्ययन करने वाले सत्य काम के प्रश्न में अध्ययन करते हैं ? और जो उपासक इन तीन अक्षरों वाले ओंकार के द्वारा इस परम पुरुष का ध्यान करता है वह पुरुष तेजोमण्डल में सूर्य को प्राप्त कर जिस तरह सर्प अपने जीर्ण त्वचा से मुक्त होता है, उसी प्रकार वह उपासक पापों से मुक्त होकर साम गान सहित वैकुण्ठ लोक में जाता है । वह उपासक उस जीवघन से बढकर परात्पर पुरुष का साक्षात्कार कर लेता है ।' (प्र० ५।५) इस श्रुति में ध्यै धातु तथा इच्छ धातु दोनों के विषय एक ही हैं । क्योंकि इच्छा ध्यान का फल है । क्योंकि 'पुरुष इस लोक में जैसी उपासना करता है, वैसा ही हो जाता है' इस श्रुति में वर्णित तत्क्रतुन्याय के अनुसार ध्यान का विषय ही प्राप्य होता है । और 'परं पुरुषम्' तथा 'परात्परं पुरुषम्' इन दोनों स्थानों में एक ही पुरुष की प्रत्य-भिज्ञा होती है । अब यहाँ पर यह शंका होती है कि क्या इस श्रुति में 'परं पुरुषम्' शब्द के द्वारा निर्दिष्ट जीव की समष्टि अण्डाधिपति चतुर्मुख ब्रह्मा हैं, अथवा सर्वेश्वर पुरुषोत्तम हैं ? दोनों में से कौन सा पक्ष मानना ठीक है ? इस पर पूर्वपक्षी का कहना है कि समष्टि क्षेत्रज्ञ को ही मानना चाहिये; क्यों कि—'हे पूजार्ह भगवन् ! जो अधिकारी उपासक मनुष्य मरण पर्यन्त ओंकार का ध्यान करता है, वह किस लोक को उस

ओंकार के द्वारा प्राप्त करना है। (प्र० ५।१) इस श्रुति से प्रारम्भ करके (प्र० ५।३ श्रुति में) एकमात्रात्मक ह्रस्व परब्रह्म के वाचक प्रणव की उपासना करनेवाले को मनुष्य लोक की प्राप्ति को बतलाकर और दो मात्रा वाले दीर्घ परब्रह्म के वाचक प्रणव की आजीवन उपासना करने वाले को अन्तरिक्ष लोक की प्राप्ति को बतलाकर, तीन मात्राओं वाले प्लुत प्रणव की उपासना करने वाले के प्राप्य रूप से कहा गया अन्तरिक्ष से भी श्रेष्ठ ब्रह्म जीवों की समष्टि रूप चतुर्मुख ब्रह्मा का लोक है, यह प्रतीत होता है। और उस लोक में गये हुए जीव के द्वारा दृश्यमाण उस लोक के स्वामी ब्रह्मा ही हैं। 'एतेन जीवघना-त्परात्पर' 'अर्थात् इस जीवघन से भी बढ़कर पुरुष को' यह श्रुति देह इन्द्रिय आदि से भी श्रेष्ठ देह इन्द्रिय आदि के साथ रहने वाला घनीभूत (पिण्डीभूत) जीव की व्यष्टि पुरुष से ब्रह्मलोक में रहने वाले समष्टि पुरुष की श्रेष्ठता सुतरां सिद्ध हो जाती है। इस तरह उस त्रिमात्रोंकार के उपासक पुरुष के द्वारा दृश्यमाण पुरुष के चतुर्मुखत्व का निश्चिय हो जाने पर उसके धर्मरूप से बतलाये गये अजरत्व आदि धर्मों का किसी प्रकार उसी में समन्वय करना चाहिये। (अर्थात् उन धर्मों का चिरकाल स्थायित्व अथवा ब्रह्मा की परिशुद्धावस्था के द्योत-कत्व रूप से निर्वाह करना चाहिये।)

मूल०—इति प्राप्ते प्रचक्ष्महे—ईक्षतिकर्मव्यपदेशात्सः।

ईक्षतिकर्म सः—परमात्मा। कुतः? व्यपदेशात्—व्यप-

दिश्यते हीक्षतिकर्म परमात्मत्वेन । तथाहि- ईक्षतिकर्म-विषयतयोदाहृते श्लोके *तमोङ्कारेणैवायतनेनान्वेति विद्वान्यत्तच्छान्तमजरममृतमभय परं चेति । परं शान्तमजरमभयममृतमिति हि परमात्मन एवैतद्रूपम्, *एतदमृतमेतदभयमेतद्ब्रह्मेत्येवमादि श्रुतिभ्यः । *एतस्माज्जीवघनात्परात्परमिति च परमात्मन एव व्यपदेशः, न चतुर्मुखस्य, तस्यापि जीवघनशब्दगृहीतत्वात् । यस्य हि कर्मनिमित्तं देहित्व स जीवघन इत्युच्यते, चतुर्मुखस्यापि तच्छ्रूयते *यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वमित्यादौ । यत्पुनरुक्तमन्तरिक्षलोकस्योपरि निर्दिश्यमानो ब्रह्मलोकश्चतुर्मुखलोक इति प्रतीयते, अतस्तत्रस्थ चतुर्मुख इति, तदयुक्तम् *यत्तच्छान्तमजरममृतमभयमित्यादिनेक्षतिकर्मणः परमात्मत्वे निश्चिते सति ईक्षितुः स्थानतया निर्दिष्टो ब्रह्मलोको न क्षयिष्णुश्चतुर्मुखलोको भवितुमर्हति । किञ्च *यथा पादोदरस्त्वचा विनिर्मुच्यते एवं ह वै स पाप्मना विनिर्मुक्तः स सामभिरुन्नीयते ब्रह्मलोकमिति सर्वपापविनिर्मुक्तस्य प्राप्यतयोच्यमानं न चतुर्मुखस्थानम् । अतएव चोदाहरण श्लोके

इममेव ब्रह्मलोकमधिकृत्य श्रूयते *यत्तत्कवयो वेदयन्त इति । कवयः–सूरयः । सूरिभिर्दृश्यं च वैष्णवं पदमेव, *तद्विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः इत्येवमादिभ्यः । न चान्तरिक्षात्परश्चतुर्मुखलोकः, मध्ये स्वर्गलोकादीनां बहूनां सद्भावात् । अतः *एतद्वै सत्यकाम परं चापरं ब्रह्म यदोङ्कारस्तस्माद्विद्वानेतेनैवायतनेनैकतरमन्वेतीति प्रतिवचने यदपरं कार्यं ब्रह्म निर्दिष्टं तदैहिकामुष्मिकत्वेन द्विधा विभज्यैकमात्रं प्रणवमुपासीनानामैहिकं मनुष्यलोकावाप्तिरूपं फलमभिधाय, द्विमात्रमुपासीनानामामुष्मिकमन्तरिक्षशब्दोपलक्षितं फलं चाभिधाय, त्रिमात्रेण परब्रह्मवाचिना प्रणवेन परं पुरुषं ध्यायतां परमेव ब्रह्म प्राप्यतयोपदिशतीति सर्वं समञ्जसम् । अत ईक्षतिकर्म परमात्मा ॥१२॥

अनु०–उपर्युक्त प्रकार का पूर्व पक्ष उपस्थित होने पर सिद्धान्ती कहते हैं–ईक्षति कर्म व्यपदेशात्सः ॥ १।३।१२ ॥ अर्थात् त्रिमात्रोंकार के उपासक पुरुष के द्वारा परं पुरुषत्वेन दृश्यमाण परमात्मा ही है, जीव नहीं) क्योंकि व्यपदेशात् उसके दर्शन के विषय को परमात्मा रूप से श्रुति स्वयं बतलाती है । वह

इस तरह से कि–उस उपासक के प्राप्य रूप से दर्शन के जो विषय भूत परं पुरुष उसके विषय में उदाहृत श्लोक (श्रुति) में कहा गया है कि–'जिस परंपद रूपी विष्णु लोक का सूरिजन क्रान्तदर्शी महर्षिगण सदा साक्षात्कार किया करते हैं उस लोक को त्रिमात्र प्रणव की उपासना के ही मार्ग से वह उपासक प्राप्त कर लेता है । और वहाँ जाकर शान्तम्=उर्मिषट्क रहित, अजरममृतम्=जरामरणादिशून्य, अभयम्=अकुतोभय सबों के श्रेष्ठकारणभूत परंब्रह्म का साक्षात्कार कर लेता है ।' (प्र० ५।७) परं शब्द वाच्य सम्पूर्ण जगद्विलक्षणत्व, अथवा सम्पूर्ण जगत् कारणत्व, शान्तम=शब्द वाच्य उर्मिषट्क रहितत्व, अजरम-मृतम्=शब्द वाच्य जरामरणादि शून्यत्व रूप धर्म परंब्रह्म परमात्मा के ही हैं । क्योंकि एतदमृतमेतदभय मेतद्ब्रह्म' इत्यादि श्रुति में बतलाया गया है कि यह ही अमृत है, यह ही अकुतोभय है तथा यह ही ब्रह्म है । 'एतस्माद् जीवघनात् परात्परम्' श्रुति के द्वारा परमात्मा का ही 'व्यपदेश किया गया है, चतुर्मुख ब्रह्मा का नहीं । क्योंकि उनके भी जीवों के ही अन्तर्गत होने के कारण उनका भी जीवघन शब्द से ग्रहण हो जायेगा । जो अपने किये हुए कर्मों के अनुसार शरीर को धारण करता है, वह जीवघन शब्दाभिधेय है । चतुर्मुख ब्रह्मा भी कर्मनिमित्तक शरीर को धारण करते है इस बात को बतलाती हुई श्रुति कहती है–जो परंब्रह्म परमात्मा सृष्टि के आदि में ब्रह्मा की सृष्टि करते हैं और सर्व प्रथम उनको वेदों का उपदेश देते हैं ।;

इत्यादि । (इस श्रुति के द्वारा ब्रह्मा का कर्मनिर्मितक शरीर धारित्व तथा भगवान् के द्वारा ज्ञान प्राप्त करने के कारण संकुचित ज्ञानयुक्तत्व की सिद्धि हो जाती है ।)

पूर्व पक्षी ने यह जो कहा है कि अन्तरिक्षलोक से ऊपर जिसका ब्रह्मलोक रूप से निर्देश किया गया है वह चतुर्मुख ब्रह्मा का लोक है, यह प्रतीत होता है । अतएव उसलोक में रहने वाले पुरुष चतुर्मुख ब्रह्मा ही हैं । तो यह पूर्वपक्षी का कहना ठीक नहीं है । क्योंकि यत् तत्छान्तमजरममृतमभयम्' इत्यादि श्रुति के द्वारा दर्शन के विषय के परमात्मत्व का निश्चय हो जाने पर द्रष्टा के स्थान रूपसे कहा गया ब्रह्मलोक क्षयिष्णु ब्रह्मा का लोक नहीं हो सकता है । दूसरी बात यह है कि— 'जिस तरह सर्प अपनी जीर्ण त्वचा से मुक्त हो जाता है उसी तरह से वह जीव अपने पूर्व कृत कर्मों के बन्धन से मुक्त हो जाता है । और सामगान पूर्वक ब्रह्मलोक मे ससम्मान ले जाया जाता है ।' इस श्रुति के द्वारा जिसका निर्देश किया गया है, वह सभी पापों से रहित जीव के लिए प्राप्य रूप से कहा गया चतुर्मुख ब्रह्मा का स्थान नहीं हो सकता है । इसीलिए उस उदाहरण श्लोक में ब्रह्मलोक के विषय में कहा गया है— यत् तत्कवयोवेदयन्ते । अर्थात् यह वह प्रसिद्ध ब्रह्मलोक है जिसका कवयः=सूरिगण अपनी प्रज्ञाचक्षु के द्वारा सदा साक्षात्कार किया करते हैं । और सूरिगणों द्वारा सर्वदा देखे जाने के योग्य भगवान् विष्णु का ही लोक है । जैसा कि श्रुतियाँ बतलाती हैं—

'तद्विष्णोः परमं पदम् सदा पश्यन्ति सूरय.' भगवान् विष्णु के उस श्रेष्ठ पद का सदा साक्षात्कार सूरिगण किया करते हैं।' इत्यादि मन्त्रो के द्वारा। किञ्च अन्तरिक्ष लोकके बादचतुर्मुख ब्रह्मा का ही लोक नहीं है, क्योंकि अन्तरिक्ष तथा ब्रह्मा के लोक दोनों के बीच में अनेक स्वर्ग आदि लोक विद्यमान हैं। इसीलिए हे सत्यकाम ? निश्चय ही यह जो ओङ्कार है वह परंब्रह्म और अपरब्रह्म दोनों का वाचक है। इसलिए इस ओंकार के ज्ञाता उपासक इसके द्वारा परंब्रह्म की अथवा अपरब्रह्म की किसी एक को उपासना करता है।' इस महर्षि पिप्पालाद के द्वारा दिये जाने वाले सत्यकाम के उत्तर में जिसको अपरब्रह्म यानी कार्य-ब्रह्म कहा गया है उसका ऐहिक=लौकिक तथा-आमुष्मिक= पारलौकिक रूप से दो रूपों में विभक्त करके, एकमात्रिक ह्रस्व प्रणव की उपासना करने वाले को लौकिक मनुष्य लोक की प्राप्ति रूपी फल की प्राप्ति को बतलाकर तथा द्विमात्रिक दीर्घ प्रणव की उपासना करने वाले को पारलौकिक (स्वर्गादि) जिसको अन्तरिक्ष शब्द के द्वारा उपलक्षित किया गया है, उसको बतलाकर त्रिमात्रिक प्लुत प्रणव की उपासना के द्वारा परंपुरुष का ध्यान करने वाले को प्राप्य रूप से श्रुति परंब्रह्म का ही उपदेश देती है। इस तरह से सभी अर्थों का समन्वय हो गया। अतएव दर्शन का विषय परमात्मा ही हैं, चतुर्मुख ब्रह्मा नहीं।

इस तरह इक्षति कर्माधिकरण का हिन्दी अनुवाद समाप्त हुआ।



विशिष्ट ग्राहकों की सूची

१– श्रीमान् महान्त गोविन्दाचार्य जी, मयानासिरोगंग ठाकुरबाड़ी अतमीगंज पो० महदेव', जि० रोहतास बिहार।

२– पं० शिवलखन तिवारीजी. पेरहाप पो० एकवारी, जिला भोजपुर बिहार।

३– श्री पं० रामलखन तिवारीजी, परेहाप पो० एकवारी, जिला भोजपुर बिहार।

४– गुरुचरन मिश्रजी, शंकरपुर पो० ठकुराई परसिया, मया नासरीगंज, जिला रोहतास (बिहार)

५– पं० जगदयालु द्विवेदीजी, पकड़ी पो० राजपुर जिला रोहतास

६– श्री शंकरलाल जी अग्रवाल, छेदीगंज खेर पो० खेर जिला अलीगढ़ (उ० प्र०)

७– तुलसीराम हनुमानबक्स जी, गिलड़ा, सेडम जिला गुलवर्गा (कर्णाटक)

८– श्री सेठ रामजीवन, गोपी किशन बलादवा जी, मारवाड़ी बाजार, ताण्डूर, ५०११४० जि० हैदराबाद, (आ० प्र०)

९– भीखूलाल नरायनदास जी बूब बारुन किला, रायचूर, रायचूर (कर्णाटक)

१०– सूरजकरन सीताराम सोनी, गान्धीनगर निजामाबाद (ए०पी०)

११– श्री परसराम जी कावरा, म० नं० १४–७–३६३ बेगम बाजार, हैदराबाद १२, हैदराबाद [ए० पी०]

१२– हरीकिशन जाजू, कुमारगली, निजामाबाद, [ए० पी०]

१३– श्रीनिवास सूंठवाल १५–२–६३१ सत्संग मण्डल किशनगंज,

किशनगंज, हैदराबाद ५०००१२ [ए० पी०]

१४- श्री १००८ श्री स्वामी पुरुषोत्तमाचार्य रामानुजाचार्य रामबाग पीठाधीश्वर, पण्ढरपुर महाराष्ट्र

१५- घनश्यामदास पुरोहित द्वारा राजेन्द्र टेक्स टाइल मिल द/१२९ इन्डस्ट्रीयल इस्टेट शाहनगर इचलकरंगी

१६- श्री वासुदेव शास्त्रीजी एडवानी जयतारा जि० पाली, राजस्थान

१७- श्री ताराचन्द बजरंगलाल जी बोहर विवेकानन्द कारपोरेशन मेनरोड इचलकरगी, कोल्हापुर महाराष्ट्र

१८- छगनलाल जी पारीक, द्वारा रामकिशन पारीक, बिहारीलाल गनेशराम जोशी इचलकरंगी कोल्हापुर महाराष्ट्र

१९- बाबूलाल पंचारिया, राजेश ट्रेडर्स, मेनरोड इचल करंगी, कोल्हापुर

२०- मदनलाल मोहनलाल वोहरा, स्वदेशी ट्रेडिंग कम्पनी इचल करगी कोल्हापुर

२१- रामएकबाल शर्मा, आर० एम० एस० डिहरी, रोहतास

२२- सम्पादक-ऋषिजीवन, भगवान, भजनाश्रम, बृन्द्रावन, मथुरा,

हिन्दी श्रीभाष्य योजना समिति से प्राप्य पुस्तकें :-

१–हिन्दी श्रीभाष्य प्रथम भाग	४–००
२–हिन्दी श्री भाष्य द्वितीय भाग	४–००
३–हिन्दी श्री भाष्य तृतीय भाग	४–००
४–हिन्दी श्री भाष्य चतुर्थ खण्ड	४–००
५–हिन्दी श्री भाष्य पञ्चम खण्ड	४–००
३–हिन्दी श्री भाष्य षष्ठ भाग	४–००
७–हिन्दी श्री भाष्य सप्तम् भाग	४–००
८–हिन्दी श्री भाष्य अष्ठम् भाग	४–००
९–हिन्दी श्री भाष्य नवम् भाग	४–००
१०–हिन्दी श्री भाष्य दसम् भाग	४–००

पुस्तक प्राप्ति स्थान :—

१:- हिन्दी श्रीभाष्य प्रकाशन योजना समिति

श्याम सदन, मु०–कटरा, पो०–अयोध्या, जि०–फैजाबाद [उ०प्र०]

२:- जगद्गुरु रामानुजाचार्य यतीन्द्र

स्वामी रामनारायणाचार्यजी महाराज

श्री कोसलेश सदन कटरा, पो० अयोध्या, जि० फैजाबाद [उ०प्र०]

३:- श्रीस्वामी वीर राघवाचार्य शास्त्री

पुरानी यज्ञवेदी, पूर्व फाटक [उत्तर स्थान] पो० अयोध्या

जिला–फैजाबाद [उ० प्र० [

पि० नं० २२४१२३